

रोशन सितारे

प्रेरक भारतीय वैज्ञानिक

अरविन्द गुप्ता

चित्रांकन: कौरन हेडॉक



एकलव्य का प्रकाशन

रशान सितारे: प्रेरक भारतीय वैज्ञानिक

ROSHAN SITARE: PRERAK BHARATIYA VAIGYANIK

अरविन्द गुप्ता

चित्रांकन: कैरन हेडॉक

मूल अँग्रेज़ी पुस्तक *Bright Sparks: Inspiring Indian Scientists from the Past* का लेखक द्वारा अनुवाद

मूल अँग्रेज़ी पुस्तक भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी द्वारा प्रकाशित।

Ⓞ एकलव्य

इस किताब के किसी भी भाग का गैर-व्यावसायिक शैक्षणिक उद्देश्य से कॉपीलेफ्ट चिह्न के तहत उपयोग किया जा सकता है। स्रोत के रूप में किताब का उल्लेख अवश्य करें तथा एकलव्य के ज़रिए लेखक को सूचित करें। किसी भी अन्य प्रकार की अनुमति के लिए एकलव्य तथा लेखक से सम्पर्क करें।

अगस्त 2011 / 3000 प्रतियाँ

कागज़: 80 gsm मेपलिथो व 300 gsm आर्ट कार्ड (कवर)

पराग इनिशिएटिव, सर रतन टाटा ट्रस्ट, मुम्बई के वित्तीय सहयोग से विकसित

ISBN: 978-81-906971-8-7

मूल्य: ₹ 110.00

प्रकाशक: **एकलव्य**

ई-10, शंकर नगर बी.डी.ए. कॉलोनी,
शिवाजी नगर, भोपाल - 462 016 (मध्य प्रदेश)
फोन: 0755 - 255 0976, 267 1017
www.eklavya.in / books@eklavya.in

मुद्रक: आदर्श प्राइवेट लिमिटेड, भोपाल, फोन: 0755 - 255 0291

विषय-सूची

मूल अँग्रेजी पुस्तक ब्राइट स्पाक्स की प्रस्तावना	5
भूमिका	7
अरदेसर खरसेदजी	13
नैन सिंह रावत	19
जगदीश चन्द्र बोस	25
प्रफुल्ल चन्द्र रे	31
रुचिराम साहनी	36
डी.एन. वाडिया	42
श्रीनिवास रामानुजन	48
सी.वी. रामन	53
शिशिर कुमार मित्रा	59
बीरबल साहनी	64
जे.बी.एस. हाल्डेन	70
प्रशान्त चन्द्र महालनोबिस	77
मेघनाद साहा	82
सत्येन्द्र नाथ बोस	88
शान्ति स्वरूप भटनागर	94
येलाप्रगदा सुब्बाराव	100
सालिम अली	106

के.एस. कृष्णन	112
वी.एन. शिरोडकर	117
टी.आर. शेषाद्री	123
पंचानन माहेश्वरी	129
इरावती कर्वे	135
बी.पी. पाल	140
डी.डी. कोसाम्बी	146
होमी भाभा	153
सुब्रह्मण्यन चन्द्रशेखर	159
विक्रम साराभाई	165
कमला सोहोनी	171
लॉरी बेकर	176
अन्ना मणि	183
वी. रामालिंगास्वामी	189
जी.एन. रामचन्द्रन	195
हरीश चन्द्र	201
ए.एस. पेन्टल	206
ए.पी. मित्रा	212
एम.के. वेणु बप्पू	218
पी.के. सेठी	223
शिवरामकृष्णन चन्द्रशेखर	229
अनिल अग्रवाल	235

मूल अंग्रेजी पुस्तक ब्राइट स्याक्स की भूमिका

मैं बहुत हर्ष के साथ पाठकों से ब्राइट स्याक्स: इंस्पायरिंग इण्डियन साइंटिस्ट्स फ्रॉम द पास्ट पुस्तक पढ़ने की सिफारिश करता हूँ। इस सुन्दर पुस्तक को अरविन्द गुप्ता ने लिखा है और कैरन हेडॉक ने इसके मनमोहक चित्र बनाए हैं। भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी अपनी स्थापना के 75 वर्ष पूरे होने पर विविध आयोजन कर रही है। इस उपलक्ष्य में अकादमी पूरे वर्ष अनेक पुस्तकें प्रकाशित करेगी। इनमें से अधिकांश वैज्ञानिक अनुसन्धान की भारी-भरकम पुस्तकें होंगी। इस मौके पर हम एक लोकप्रिय पुस्तक प्रकाशित करना चाहते थे जो प्रेरक भारतीय वैज्ञानिकों पर हो और बच्चों को पसन्द आने वाली एक आकर्षक पुस्तक बन पड़े। जब मैं इस बारे में सोच रहा था तभी मुझे अरविन्द गुप्ता द्वारा दिए गए एक व्याख्यान की अध्यक्षता करने का मौका मिला। फरवरी 2008 में राष्ट्रीय विज्ञान दिवस पर अरविन्द गुप्ता को विज्ञान प्रसार के लिए इन्दिरा गाँधी पुरस्कार मिलने वाला था। व्याख्यान सुनने के बाद मैं उनकी क्षमताओं को लेकर पूरी तरह आश्चस्त हुआ और इस पुस्तक को लिखने के लिए मैंने उन्हें आमंत्रित किया। अरविन्द गुप्ता ने इस निमंत्रण को स्वीकारा और कैरन हेडॉक को पुस्तक के चित्र बनाने के लिए राजी किया। पुस्तक के लिए एक सलाहकार समिति का गठन हुआ जिसमें प्रख्यात वैज्ञानिक जयन्त नालीकर, माधव गाडगिल और टी. पद्मनाभन शामिल थे। सारा काम समय पर सम्पन्न हुआ और उसकी वजह से यह सुन्दर पुस्तक आज हमारे हाथ में है। मैं लेखक, चित्रकार और सलाहकार समिति का शुक्रगुजार हूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि इस पुस्तक से बच्चों के साथ-साथ बड़ों का भी ज्ञानवर्द्धन होगा।

एम. विजयन

अध्यक्ष

भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी

नवम्बर 2009

भूमिका

इस पुस्तक के विचार ने 28 फरवरी 2008 को जन्म लिया। मौका था राष्ट्रीय विज्ञान दिवस का और स्थान था भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, नई दिल्ली। वहाँ मुझे अकादमी के अध्यक्ष प्रो. एम. विजयन के हाथों विज्ञान प्रसार के लिए इन्दिरा गाँधी पुरस्कार मिलना था। बातचीत के दौरान प्रो. विजयन ने मुझसे इस अकादमी के 75 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में अतीत के भारतीय वैज्ञानिकों के बारे में एक पुस्तक लिखने का आग्रह किया। उन्होंने मुझसे कहा, “पुस्तक पठनीय हो और उसमें सुन्दर चित्र हों, जिससे बच्चे उसे चाव से पढ़ें।”

प्रो. विजयन ने अपने आग्रह पर गम्भीरता से अमल किया। कुछ दिनों बाद उन्होंने प्रो. जयन्त नार्लीकर से सम्पर्क कर उन्हें इस पुस्तक की सलाहकार समिति की अध्यक्षता करने के लिए राजी किया। प्रो. नार्लीकर ने प्रो. माधव गाडगिल और प्रो. टी. पद्मनाभन को समिति में आमंत्रित किया। मैं इस समिति के विद्वान सदस्यों का बेहद आभारी हूँ। ये लोग न केवल चोटी के वैज्ञानिक हैं बल्कि बेहद संवेदनशील इन्सान भी हैं।

वैज्ञानिकों का चयन

कुछ बैठकों के बाद 40 वैज्ञानिकों की सूची तैयार हुई। वैज्ञानिकों को किस आधार पर चुना गया? सबसे पहले नोबल पुरस्कार से सम्मानित

वैज्ञानिकों को सम्मिलित किया गया – जो कि दुनिया का सबसे बड़ा पुरस्कार है। फिर उन वैज्ञानिकों को शामिल किया गया जो रॉयल सोसाइटी के फैलो (एफ. आर.एस.) चुने गए थे। नैन सिंह रावत का नाम एक पथ-प्रदर्शक सर्वेयर के रूप में सुझाया गया। उन्होंने वह काम किया जिसे अँग्रेज़ खुद करने में विफल रहे।



उन्होंने हिमालय में तिब्बत और ल्हासा जैसे विशाल क्षेत्रों का सर्वेक्षण किया। इस काम के लिए उन्हें अँग्रेज़ों ने विक्टोरिया पदक से सम्मानित किया। भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी ने पंजाब के प्रख्यात विज्ञान प्रसारक रुचिराम साहनी और करोड़ों लोगों की जान बचाने वाली प्रतिजैविक टेट्रासाईक्लीन के अन्वेषक येलप्रगदा सुब्बाराव के नाम सुझाए। देश के प्रख्यात पक्षी वैज्ञानिक और शोधकर्ता सालिम अली और भारतीय अन्तरिक्ष कार्यक्रम के संस्थापक विक्रम साराभाई के नाम भी शरीक किए गए। कुछ कम ख्यात लोगों के नामों को भी सूची में जोड़ा गया। इन विलक्षण लोगों का योगदान भी बहुत महत्वपूर्ण है। ये थे गणितज्ञ एवं इतिहासकार प्रो. दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी, शिरोडकर स्टिच (Shirodkar Stitch) के आविष्कारक डॉक्टर शिरोडकर, विश्व प्रसिद्ध जयपुर-फुट (Jaipur Foot) के डिज़ाइनर डॉक्टर प्रमोद कर्ण सेठी, पर्यावरणविद् अनिल अग्रवाल और हज़ारों लोगों के लिए सस्ते घर बनाने वाले वास्तुशिल्पी लॉरी बेकर। मुझे लॉरी बेकर के साथ काम करने का मौका मिला था। इसलिए सूची में उनका नाम देखकर मुझे अपार प्रसन्नता हुई।

“इसमें महिला वैज्ञानिक कहाँ हैं?” प्रो. गाडगिल ने पूछा और प्रख्यात मानवशास्त्री प्रो. इरावती कर्वे का नाम सुझाया। सौभाग्य से उसी समय एक अनूठी पुस्तक *लीलावतीज़ डॉटर्स (Lilavati's Daughters)* प्रकाशित हुई थी। इसमें 100 भारतीय महिला वैज्ञानिकों ने अपने जीवन के अनुभवों और संघर्षों को अपने शब्दों में बयान किया था। इस पुस्तक की सहायता से हम दो अन्य महिला वैज्ञानिकों, अन्ना मणि और कमला सोहोनी के नामों को जोड़ पाए। पुरुष-प्रधान विज्ञान के क्षेत्र में इन महिलाओं का योगदान वास्तव में बेजोड़ है।

महिला वैज्ञानिकों की संख्या कम क्यों?

यह एक गम्भीर विषय है – 40 शीर्ष भारतीय वैज्ञानिकों की सूची में केवल तीन ही महिलाएँ क्यों? 20 क्यों नहीं? कारण स्पष्ट है – पुरुष-प्रधान समाज में आगे बढ़ने के लिए महिलाओं को अपार संघर्ष करना पड़ता है। सौ साल पहले जब महिलाओं की शिक्षा पर समाज सुधारकों की नज़र पड़ी, तब भी उन्हें पतिव्रता पत्नी और अच्छी गृहिणी बनाने पर ही जोर था। सामन्ती और पुरुष-प्रधान समाज में उच्च जाति एवं उच्च वर्ग की केवल मुट्ठीभर महिलाओं को ही उच्च शिक्षा का मौका मिलता था। इन महिलाओं को भी विज्ञान के जादुई क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए एड़ी-चोटी का संघर्ष करना पड़ता था।



एक उदाहरण लें: कमला सोहोनी बम्बई विश्वविद्यालय में प्रथम आई थीं। इसके बावजूद नोबल पुरस्कार विजेता सी.वी. रामन ने उन्हें दाखिला देने से इन्कार किया: “मैं अपनी संस्था में किसी भी लड़की को नहीं लूँगा।” जब कमला ने रामन के दफ्तर में धरना दिया तब रामन थोड़ा नरम पड़े। आखिर में उन्होंने कमला को दाखिला तो दिया परन्तु एक ‘विशेष’ छात्रा के रूप में। बाद में कमला ने एक शोधकर्ता के रूप में अपनी साख जमाई



और केम्ब्रिज से पीएच.डी. हासिल की। शुरुआत में महिला वैज्ञानिकों को विज्ञान के पुरुष-प्रधान क्षेत्र में अपने पैर जमाने के लिए बहुत मेहनत-मशक्कत करनी पड़ी। उनके संघर्षों और कुर्बानियों से भावी पीढ़ियों के लिए रास्ता प्रशस्त हुआ। आज स्थिति पहले से निश्चित ही बेहतर है। एक अनुमान के मुताबिक वर्तमान भारत में चार में से एक वैज्ञानिक महिला है। यह सचमुच हर्ष का विषय है।



पुस्तक लिखने की ज़िम्मेदारी स्वीकार करने के बाद मैं उसमें पूरी तरह डूब गया और धीरे-धीरे इसमें मुझे लुत्फ आने लगा। सौभाग्य से डॉ. कैरन हेडॉक ने पुस्तक के चित्र बनाने और उसे डिज़ाइन करने की ज़िम्मेदारी को स्वीकारा। कैरन ने जैव-भौतिकी में पीएच.डी. की है और वे पिछले लगभग 25 सालों से भारत में

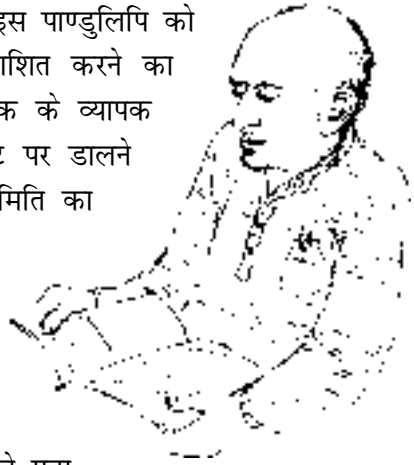
हैं। उनके माता-पिता भी चित्रकार थे। उन्होंने होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम की *बाल वैज्ञानिक* पुस्तकों में अपने सजीव चित्रों के माध्यम से जान फूँक दी थी। कैरन की रज़ामन्दी के बाद मुझे एक अच्छी और सुन्दर किताब तैयार होने का भरोसा हुआ। इस पुस्तक में मेरा योगदान बहुत थोड़ा है। अगर यह पुस्तक लोकप्रिय हुई तो इसका पूरा श्रेय कैरन के सुन्दर चित्रों को जाएगा।

लोगों के जेहन में वैज्ञानिकों की एक घिसी-पिटी छवि होती है - ऐसे लोग जो बाहरी दुनिया से अलग-थलग, दिन-रात प्रयोगशाला में शोधकार्य करते रहते हैं। परन्तु आम लोगों की तरह वैज्ञानिकों की ज़िन्दगी भी बहुआयामी होती है। पुस्तक में वैज्ञानिकों की जीवनचर्या और शोध



कार्य के साथ-साथ कुछ रोचक जानकारियाँ भी जोड़ी गई हैं: उन्हें विज्ञान की प्रेरणा कैसे मिली? क्या बचपन का कोई खास अनुभव इसके लिए ज़िम्मेदार था? क्या इस प्रेरणा के पीछे कोई विशेष व्यक्ति - उनकी माँ या कोई शिक्षक - था? पुस्तक में वैज्ञानिकों के जीवन के कुछ व्यक्तिगत पक्षों को भी सँजोया गया है। इनमें से कुछ कविताएँ लिखते थे। कुछ को चित्रकारी का शौक था तो कुछ को तेज़-रफ्तार मोटरसाइकिल चलाने का चस्का था! जीवन के मानवीय पक्षों को जोड़ने से वैज्ञानिकों के व्यक्तित्व की एक बहुआयामी छवि तैयार होती है।

पुस्तक की सलाहकार समिति ने इस पाण्डुलिपि को अँग्रेजी और हिन्दी दोनों में प्रकाशित करने का सुझाव दिया था। समिति ने पुस्तक के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिए उसे इंटरनेट पर डालने की सिफारिश भी की थी। मैं समिति का आभारी हूँ। मुझे आशा है कि इस पुस्तक का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद भी होगा। मैं अपनी पत्नी सुनीता और साथी कार्यकर्ता विदुला का तहेदिल से शुकुरगुजार हूँ। इन दोनों ने मेरे सभी लेखों को पढ़ा और उन्हें बेहतर बनाने के लिए अनेक सुझाव दिए।



अरविन्द गुप्ता

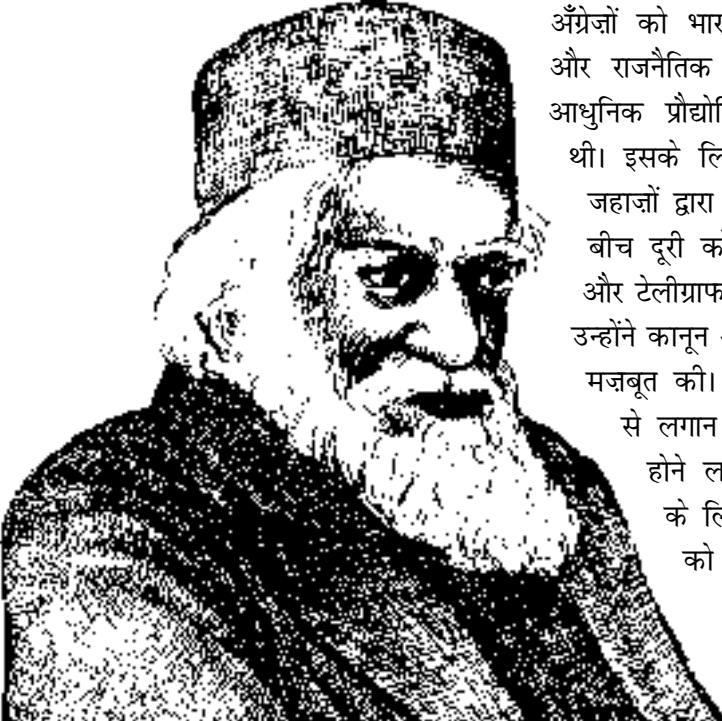
2 अक्टूबर 2009

ईमेल: arvindtoys@gmail.com

अरदेसर खरसेदजी

(1808 - 1877)

बहुत कम भारतवासियों ने अरदेसर खरसेदजी का नाम सुना होगा। उससे भी कम लोग इस बात से अवगत होंगे कि बम्बई का यह समुद्री इंजीनियर 27 मई 1841 को रॉयल सोसाइटी का पहला भारतीय फ़ैलो बना। रॉयल सोसाइटी की अगली फ़ैलोशिप 75 वर्ष बाद प्रख्यात गणितज्ञ श्रीनिवास रामानुजन को प्रदान की गई।



अँग्रेजों को भारत में अपने व्यापारिक और राजनैतिक हित साधने के लिए आधुनिक प्रौद्योगिकी की आवश्यकता थी। इसके लिए उन्होंने भाप-चलित जहाजों द्वारा इंग्लैण्ड और भारत के बीच दूरी को कम किया। रेलमार्गों और टेलीग्राफ का ताना-बाना बुनकर उन्होंने कानून और व्यवस्था की पकड़ मज़बूत की। संचार के इन माध्यमों से लगान की वसूली भी ज़्यादा होने लगी। मुट्ठी भर अँग्रेजों के लिए इतने बड़े हिन्दुस्तान को नियंत्रण में रखना एक

असम्भव कार्य था। यह काम करने के लिए उन्हें हिन्दुस्तानियों की मदद की जरूरत थी। शुरू में अँग्रेजों ने कुछ हिन्दुस्तानियों को नौकरियाँ दीं। उद्देश्य साफ था - उनकी मदद से हिन्दुस्तान को जानना-समझना। बाद में उन्होंने क्लर्की और मुंशीगिरी का प्रशिक्षण देने के लिए स्कूल स्थापित किए। किन्तु इस आधुनिक शिक्षा ने भारतीयों में राष्ट्रीय जागृति के बीज भी बोए।

जहाज़ निर्माण के क्षेत्र में खरसेदजी के परिवार ने एक लम्बे अरसे से अँग्रेजों की मदद की थी। उनके एक पुरखे लाओजी नुसरवानजी (वाडिया) सूरत के बन्दरगाह में बढई थे। बाद में अँग्रेज उन्हें नए बन्दरगाह का निर्माण करने के लिए बम्बई लाए। जहाज़ों के निर्माण के लिए अँग्रेज बलूत के लट्ठों का उपयोग करते थे। परन्तु तेजी से फैलते ब्रिटिश साम्राज्य में जल्द ही बलूत के पेड़ों का सफाया हो गया। उन्हें बलूत का एक बेहतर विकल्प मलाबार सागौन में मिला। सागौन की लकड़ी मज़बूत होती है और सड़ती नहीं है। प्रचुर मात्रा में सागौन और कुशल बढई उपलब्ध होने के कारण बम्बई जहाज़ बनाने के प्रमुख केन्द्र के रूप में उभरा। जहाज़ बनाने के काम में लगे होने के कारण खरसेदजी परिवार को बहुत प्रतिष्ठा मिली।

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में भाप-चलित जहाज़ों का उद्गम लगभग अरदेसर खरसेदजी के जन्म के समय ही हुआ। लेकिन उनकी रुचि जहाज़ निर्माण में कम और भाप-चलित मशीनों में ज्यादा थी। जल्द ही एक हॉर्सपावर के इंजन का निर्माण कर उन्होंने अपनी कुशलता का परिचय दिया। एक छोटे फव्वारे के लिए कुएँ से पानी खींचने हेतु इसे



लगाया गया। यह भारत में बना पहला इंजन था। 1833 में अरदेसर ने इंग्लैण्ड से 10 हॉर्सपावर का एक समुद्री इंजन मँगाया और उसे इण्डस नाम के जहाज़ में लगाया। अक्टूबर 1833 में उन्हें माझगाँव बन्दरगाह में सहायक निर्माता बनाया गया। अरदेसर खरसेदजी ने अपने घर पर एक छोटी ढलाईशाला स्थापित की। यहाँ वे जहाज़ों के लिए लोहे की टकियाँ ढालते थे।

उनका अगला करिश्मा था गैस से जलने वाली बत्ती। 1834 तक उन्होंने माझगाँव स्थित अपने बंगले और बगीचे को गैस की बत्तियों से रोशन कर लिया था।

जल्द ही उन्हें नवनिर्मित एलफिंस्टन इंस्टिट्यूट में विज्ञान की प्रायोगिक कक्षाएँ लेने के लिए बुलाया गया। उन्होंने वहाँ भारतीय छात्रों को यांत्रिकी और रासायनिक विज्ञान सिखाया। तीन साल बाद वे इंग्लैण्ड की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के अप्रवासी सदस्य चुने गए।



जल्द ही खरसेदजी ने एक साल इंग्लैण्ड में गुज़ारने का निर्णय लिया। वहाँ वे समुद्री जहाज़ों में लगने वाले भाप के इंजनों की नवीनतम जानकारी हासिल करना चाहते थे। इस यात्रा में वे अपने नौकरों को भी साथ ले गए क्योंकि वे केवल पारसियों के हाथ का पका खाना ही खाते थे। धार्मिक मामलों में खरसेदजी घोर रूढ़िवादी थे। इंग्लैण्ड में अगर कोई युवा पारसी पारम्परिक पारसी टोप नहीं पहनता था तो उन्हें यह बात आपत्तिजनक लगती थी। उन्हें इंग्लैण्ड की संसद के हाउस ऑफ कॉमन्स की एक समिति की एक बैठक में आमंत्रित किया गया।

व्यस्त रहने के बावजूद खरसेदजी लन्दन से ज्यादा प्रभावित नहीं हुए। इंग्लैण्ड की शाही टकसाल उन्हें बम्बई की टकसाल की तुलना में कहीं गई-गुज़री लगी। और बम्बई से प्रतिकूल तुलना करते हुए उन्होंने लन्दन की गन्दी सड़कों की आलोचना की।

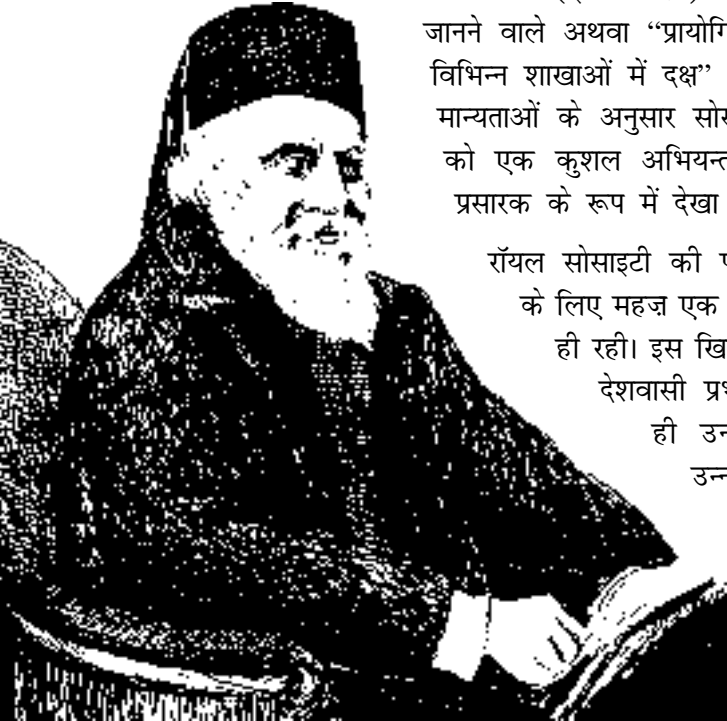
परन्तु व्यावसायिक रूप से खरसेदजी का यह दौरा बहुत सफल रहा। वे इंस्टिट्यूशन ऑफ सिविल इंजीनियर्स (Institution of Civil Engineers),

सोसाइटी ऑफ आर्ट्स एंड साइंस (Society of Arts and Science) और ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइंस (British Association for the Advancement of Science) जैसी नामी-गिरामी ब्रिटिश संस्थाओं के सदस्य भी बना दिए गए। वापस लौटने पर खरसेदजी की नियुक्ति ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बम्बई स्थित कारखाने और ढलाईशाला में मुख्य अभियन्ता और निरीक्षक के पद पर हुई। उनकी तनख्वाह अब 600 रुपए महीना थी, जो उनकी पहले की तनख्वाह से सात गुना से भी ज्यादा थी।

1841 में जब अरदेसर खरसेदजी इंग्लैण्ड में थे तब उन्हें प्रख्यात रॉयल सोसाइटी की फ़ैलोशिप से नवाज़ा गया। उनका नाम प्रभावशाली लोगों ने प्रस्तावित किया था। इनमें से दो लोग बाद में इंस्टिट्यूशन ऑफ सिविल इंजीनियर्स के अध्यक्ष बने, एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अध्यक्ष बना और एक रॉयल सोसाइटी का अध्यक्ष बना।

आजकल रॉयल सोसाइटी की छवि प्रख्यात वैज्ञानिकों के एक संगठन की है। परन्तु 20वीं शताब्दी के शुरू में रॉयल सोसाइटी प्राकृतिक इतिहास के जिज्ञासु सम्भ्रान्त लोगों का एक क्लब भी थी। ये लोग गणित और अभियांत्रिकी (इंजीनियरिंग) को अच्छी तरह से जानने वाले अथवा “प्रायोगिक दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में दक्ष” थे। उस समय की मान्यताओं के अनुसार सोसाइटी ने खरसेदजी को एक कुशल अभियन्ता और विज्ञान के प्रसारक के रूप में देखा होगा।

रॉयल सोसाइटी की फ़ैलोशिप खरसेदजी के लिए महज़ एक व्यक्तिगत उपलब्धि ही रही। इस खिताब से न तो उनके देशवासी प्रभावित हुए और न ही उनकी कोई पेशेवर उन्नति हुई। इस बीच वे बम्बई वापस लौटे और जब



1 अप्रैल 1841 को उन्होंने नया कार्यभार ग्रहण किया तो कई यूरोपीय अफसर उनके अधीन थे। अरदेसर खरसेदजी पहले भारतीय थे जिनके नीचे गोरे लोगों ने काम किया। उनके स्टाफ में एक मुख्य सहायक, चार गोरे फोरमैन, 100 गोरे अभियन्ता और बॉयलर-मेकर तथा 200 हिन्दुस्तानी कारीगर थे। उनकी नियुक्ति से कई गोरे लोगों को ईर्ष्या हुई। अँग्रेजों की तरफदारी करने वाले अखबार *बॉम्बे टाइम्स (Bombay Times)* ने उनकी नियुक्ति का अनुमोदन नहीं किया। उसने लिखा, “चाहे वह कितना भी पढ़ा-लिखा और योग्य क्यों न हो, फिर भी हमें सन्देह है कि किसी भी हिन्दुस्तानी में इतनी सक्षमता होगी कि वह बॉम्बे स्टीम फैक्ट्री जैसे संस्थान की कमान सम्हाल सके जिसमें उसे बहुत-से अँग्रेजों का निदेशन, निरीक्षण और नियंत्रण करना होगा।”

परन्तु खरसेदजी ने अपनी इस ज़िम्मेदारी को बखूबी निभाया। 1849 में वे अमरीका गए। वहाँ उन्होंने लकड़ी काटने की कुछ मशीनें खरीदीं और उन्हें बम्बई भेजा। उस समय अमरीकी लोग भारतीयों के बारे में किस तरह रूढ़ीगत ढंग से सोचते थे यह उस परिवार के एक सदस्य के लिखे इस संस्मरण से स्पष्ट होता है जिसे मिलने एक दिन वे गए थे:

उस समय के विदेशी मेहमानों में हमें सबसे ज़्यादा चकित किया छोट के कपड़े की ऊँची टोपी पहने एक असली, जीते-जागते पारसी ने, जिसे हमारे एक मित्र चाय पर हमारे घर लाए। मेरे लिए यह एक नई बात थी कि अग्नि का एक उपासक साधारण लोगों की तरह चाय पी सकता था। पर वह एक सीधा-सादा शेर था, और नरमी से दहाड़ा। उसने औरों की तरह ही डबलरोटी और मक्खन खाया और चाय पी। उसने बम्बई में अपनी ज़िन्दगी के बारे में हमें कई रोचक कहानियाँ सुनाईं। मुझे याद है कि हम बहुत स्पष्ट ढंग से बोल रहे थे, मानो हम किसी बच्चे से बात कर रहे हों और उसने हमारे प्रश्नों के उत्तर बहुत मद्धिम, सम्भ्रान्त और संस्कारित आवाज़ में दिए। उसकी अँग्रेजी हम लोगों की अँग्रेजी से कहीं बेहतर थी।

फरवरी 1851 में अरदेसर खरसेदजी ने एक स्टीमर का जलावतरण किया

जिसका नाम 'लाओजी फैमिली' था। इस स्टीमर का हरेक कल-पुर्जा देसी था और खरसेदजी के अपने घर में लगी ढलाईशाला में बना था। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने बम्बई शहर का परिचय सिलाई मशीन, फोटोग्राफी और इलेक्ट्रोप्लेटिंग (*electroplating*) से कराया।

सन् 1861 में वे इण्डस फ्लोटिला कम्पनी में अधीक्षण अभियन्ता के पद पर नियुक्त हुए और इस कम्पनी की सिन्ध में कोटरी स्थित भाप इंजन शाखा तथा कारखानों की बागडोर सम्हाली। फ्लोटिला कम्पनी उस समय भारतीय नौसेना के अधीन थी जिसे 1863 में भंग कर दिया गया। परिणामस्वरूप कम्पनी भी टूट गई। खरसेदजी ने इस्तीफा दिया और इंग्लैण्ड चले गए जहाँ वे रिचमंड में बस गए। वहीं 16 नवम्बर 1877 को उनका देहान्त हुआ।

यह आश्चर्य की बात है कि तमाम उपलब्धियों के बावजूद अरदेसर खरसेदजी गुमनाम ही रहे। तब तक भारतीय वैज्ञानिक गतिविधि का केन्द्र बम्बई से हटकर कलकत्ता चला गया था और नवजागरण के अग्रणी लोगों को अरदेसर खरसेदजी के काम के बारे में कुछ पता नहीं था। शायद इसी वजह से भारत का पहला आधुनिक अभियन्ता कभी भी अपने देशवासियों के लिए एक आदर्श नहीं बन पाया। भारत सरकार ने देश के इस कुशल जहाज़ निर्माता की स्मृति में एक डाक टिकट अवश्य जारी किया।

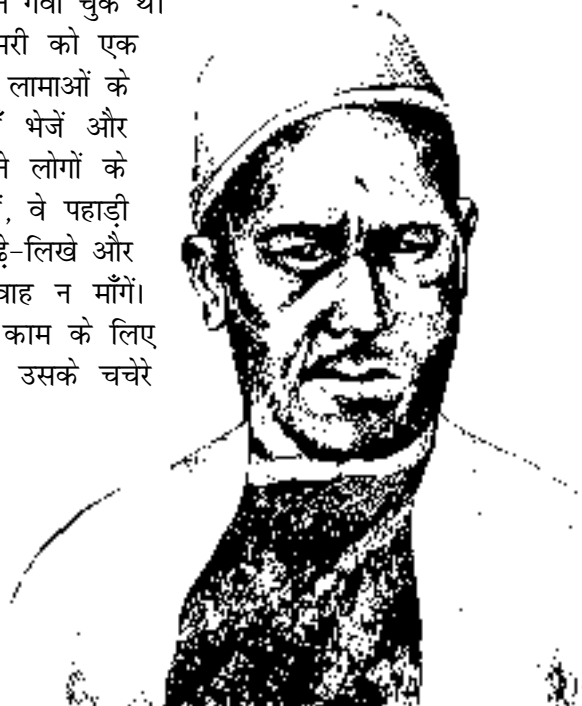


नैन सिंह रावत

(1830 - 1895)

भारत में अपना राज्य स्थापित करने के बाद यह स्वाभाविक था कि अँग्रेज उपनिवेशकों की निगाहें हिमालय और उसके पार के क्षेत्रों की अपार सम्पदा पर पड़ें। पर यह राह कठिन थी। चीन के सम्राट ने तिब्बत की सीमाएँ विदेशियों के लिए बन्द कर दी थीं और उल्लंघन की सजा मौत थी। सर्वेक्षण विभाग के कई लोग इस क्षेत्र का सर्वे करने के चक्कर में अपनी जान गँवा चुके थे। अन्त में थॉमस जी. मॉण्टगोमरी को एक विलक्षण उपाय सूझा: क्यों न लामाओं के वेश में भारतीय जासूस वहाँ भेजें और प्रदेश के नक्शे बनवाएँ? चुने लोगों के नाक-नक्श तिब्बतियों जैसे हों, वे पहाड़ी तौर-तरीकों से वाकिफ हों, पढ़े-लिखे और जवान हों और ज़्यादा तनख्वाह न माँगें। हिमालय के सर्वेक्षण के इस काम के लिए मॉण्टगोमरी ने नैन सिंह और उसके चचेरे भाई मणी सिंह को चुना।

नैन सिंह का बचपन घोर गरीबी में बीता था। उनकी कोई पुरतैनी ज़मीन-जायदाद नहीं

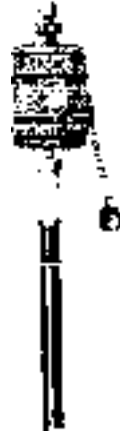




थी और परिवार बहुत बड़ा था। उनके लिए घर का खर्च चला पाना भी मुश्किल था। जवान होते ही उन्होंने कर्ज लेकर व्यापार शुरू किया पर असफल रहे। इसके बाद वे ऊपरी हिमालय के मिलम गाँव के स्कूल में मास्टरी करने लगे। मणी सिंह नैन सिंह से बड़े थे। 1833 में मॉण्टगोमरी ने दोनों भाइयों को सर्वेक्षण का कठिन प्रशिक्षण दिया।

यह प्रशिक्षण बाद में भारत के हर सर्वेयर या 'चेन-मैन' के लिए अनिवार्य हो गया। उन्हें एक नपे-तुले तरीके से चलना सिखाया गया, जिससे भले ही भूभाग कैसा भी हो, हर कदम एक निश्चित दूरी नापता था - यानी 33 इंच। कदमों की संख्या गिनने के लिए उन्हें 100 मोतियों वाली माला दी गई थी; पारम्परिक मालाओं में 108 मोती होते हैं। इस प्रकार कदमों को गिनकर चली गई दूरी नापने में वे सक्षम हुए। तीर्थयात्री के भेष में नैन सिंह के बोरी-बिस्तर में कई यंत्र छिपे थे। चाय के कटोरे में पारे से भरा एक खुफिया आला था जिससे क्षितिज ढूँढने में मदद मिलती थी। उनकी छड़ी में एक थर्मामीटर छिपा था, जिसे वे चाय के उबलते पानी में डुबोकर वहाँ की ऊँचाई नापते थे। हर स्कूली छात्र जानता है कि पानी उबलने का बिन्दु ऊँचाई के अनुसार बदलता जाता है।

पर सबसे खास चीजें नैन सिंह के प्रार्थना-चक्र में छिपी थीं। सामान्यतः प्रार्थना-चक्र एक पवित्र वस्तु होता है जिसमें चमड़े या कागज़ पर लिखा यह तिब्बती मंत्र होता है - "ओम मने पद्मे हुम"। परन्तु नैन सिंह का विशेष प्रार्थना-चक्र दूरियों, ऊँचाइयों और पहचान-चिह्नों के आँकड़ों से भरा था। इन पैदल सर्वेयरों को कूट नाम दिए गए थे - नैन सिंह का नाम 'चीफ पण्डित' (मुख्य पण्डित) और उनके चचेरे भाई का नाम 'सेकण्ड पण्डित' (दूसरा पण्डित) था। ये कूट नाम सर्वे करने वालों पर सदा के लिए चिपक गए और बाद में सभी सर्वेयर 'पण्डित' के नाम से पुकारे जाने लगे।





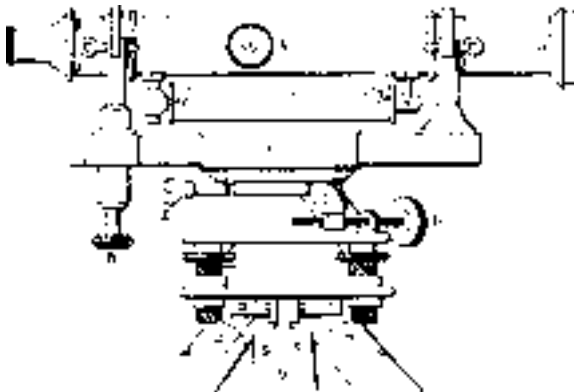
की तरह रहने लगे। एक धर्मशाला में उन्होंने कई हफ्ते बिताए। रात के समय वे धर्मशाला की छत से तारों का अध्ययन करते। पानी उबलने के तापमान के आधार पर उन्होंने समुद्र-सतह से ल्हासा की ऊँचाई का अनुमान 3,240 मीटर लगाया। आज नवीनतम उपकरणों द्वारा यह ऊँचाई 3,540 मीटर नापी गई है। तारों की कोणीय ऊँचाई (*angular altitude*) के आधार पर उन्होंने ल्हासा के अक्षांश का अनुमान भी लगाया।

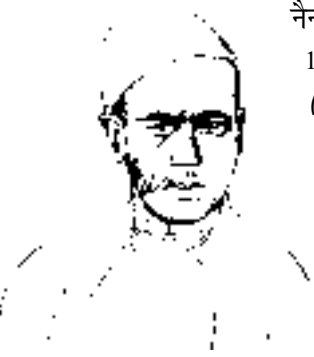
अप्रैल में नैन सिंह अपने सारे उपकरण बटोरकर एक कारवाँ से साथ वापस भारत की ओर चल पड़े। कारवाँ तिब्बत की प्रमुख नदी त्सांगपो के साथ-साथ पश्चिम की ओर बढ़ रहा था। एक रात नैन सिंह चुपके से कारवाँ छोड़कर भाग निकले। फिर वे उत्तर की ओर बढ़े और 27 अक्टूबर 1866 को सर्वेक्षण विभाग के देहरादून स्थित मुख्यालय पहुँचे। नैन सिंह ने दो और यात्राएँ भी कीं। 1867 की अपनी दूसरी यात्रा के

दौरान उन्होंने पश्चिमी तिब्बत का दौरा किया और वहाँ स्थित सोने की प्रख्यात ठोक-जालुंग खदानों को देखा। उन्होंने गौर किया कि वहाँ के मजदूर केवल सतह को ही खोद रहे थे। उनका मानना था कि गहरी खुदाई करना पृथ्वी के प्रति अपराध है जिससे उसकी उर्वरता कम हो जाएगी।

1873-75 के बीच नैन सिंह ने कश्मीर के लेह से ल्हासा तक यात्रा की। पिछली बार वे त्सांगपो नदी के किनारे-किनारे गए थे पर इस बार उन्होंने उत्तर का रास्ता चुना। लगभग 50 साल तक इस क्षेत्र की ठोस जानकारी का आधार नैन सिंह द्वारा बनाए नक्शे ही थे। इस अन्तिम यात्रा का नैन सिंह की सेहत पर बुरा प्रभाव पड़ा। उनकी आँखें भी कमजोर हो गईं। उसके बाद भी वे कई सालों तक अन्य पण्डितों को सर्वेक्षण और जासूसी की कला सिखाते रहे, और यह काम उन्होंने बहुत प्रशंसनीय ढंग से किया।

देहरादून में नैन सिंह के नक्शों के आधार पर धीरे-धीरे सटीक नक्शे बनाए गए। यह काम ग्रेट ट्रिगोनोमैट्रिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (भारत का वृहत् त्रिकोणमितीय सर्वेक्षण) की स्थापना के बाद ज़्यादा व्यवस्थित ढंग से किया जाने लगा। इस विस्तृत सर्वेक्षण में शुद्धता से अक्षांश और देशान्तर के बिन्दु स्थापित किए गए और फिर धीरे-धीरे बिन्दुओं के बीच त्रिकोण बनाकर भारत के तटवर्ती और भीतरी क्षेत्रों का पूरा नक्शा बनाया गया।





नैन सिंह का नाम और उनके काम की ख्याति फैलने लगी। 1876 में उनकी उपलब्धियों के बारे में *ज्योग्राफिकल (Geographical)* पत्रिका में लिखा गया। जल्द ही पुरस्कारों का ताँता लग गया। सेवानिवृत्ति के बाद भारत सरकार ने उन्हें एक गाँव और एक हजार रुपए देकर सम्मानित किया। 1868 में रॉयल ज्योग्राफिक सोसाइटी ने नैन सिंह को सोने का एक नक्काशीदार कालमापी पुरस्कार में दिया। 1877 में इसी संस्था ने नैन सिंह को विक्टोरिया पदक से भी सम्मानित किया। पदक पर ये शब्द अंकित थे: “यह वो

इन्सान है जिसने हमारे समय में एशिया के नक्शे को किसी भी अन्य व्यक्ति की तुलना में अधिक सकारात्मक ज्ञान से समृद्ध किया।” पेरिस की सोसाइटी ऑफ ज्योग्राफर्स ने भी नैन सिंह को एक नक्काशीदार घड़ी भेंट की। 27 जून 2004 को भारत सरकार ने ग्रेट ट्रिग्नोमैट्रिकल सर्वे में नैन सिंह की भूमिका की स्मृति में एक डाक टिकट जारी किया।

हालाँकि जीवन के बाद के वर्षों में नैन सिंह को उनकी योग्यता के अनुरूप मान्यता मिल गई थी, फिर भी यह हैरानी की बात है कि इस अत्यधिक दुर्गम भूभाग की 16,000 मील से अधिक की कठिन यात्रा उन्होंने केवल 20 रुपए महीने के शुरुआती वेतन के लिए की! शायद, आखिर में इस सब का मूल्य है – नैन सिंह ने वह करके दिखाया जो कभी कोई गोरा नहीं कर पाया था।





1895 में मारकोनी ने वायरलेस (बेतार) के माध्यम से एक सन्देश भेजा और उसे एक मील की दूरी पर रिसेवर द्वारा पकड़कर विश्व को अचम्भित कर दिया। परन्तु इससे दो साल पहले ही कलकत्ता स्थित प्रेसिडेंसी कॉलेज के जगदीश चन्द्र बोस ने वायरलेस तरंगों के माध्यम से एक मील दूर रखी घण्टी बजाकर लगभग इसी वैज्ञानिक प्रयोग को जनता के बीच दिखाया था। बोस ने शोध के दो सर्वथा भिन्न क्षेत्रों यानी रेडियो तरंग और वनस्पति विज्ञान में मौलिक योगदान दिया। पौधों की संवेदनशीलता की उन्हें इतनी गहरी समझ थी कि अक्सर उनके छात्र मजाक करते हुए कहते कि वे पौधों से बातचीत कर सकते हैं।

बोस का जन्म 30 नवम्बर 1858 को फरीदपुर, पूर्वी बंगाल (वर्तमान बांग्लादेश) में हुआ। उनके पिता भगवान चन्द्र बोस एक परोपकारी नौकरशाह थे। उन्हें अपनी मातृभाषा बांग्ला से प्रेम था और गरीब लोगों



से बेहद सहानुभूति थी। उन्होंने बेरोज़गारों को काम देने की कोशिश की परन्तु इस प्रयास में वे खुद गहरे कर्ज में डूब गए। परन्तु पिता के आदर्शों और गरीबों के प्रति सहानुभूति ने जगदीश चन्द्र को जीवन भर प्रेरित किया।

बचपन में जगदीश चन्द्र बांग्ला माध्यम के एक स्थानीय स्कूल में पढ़े। यहाँ उनका सम्पर्क विभिन्न पृष्ठभूमियों के बच्चों से हुआ। इस समृद्ध अनुभव का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे जीवन भर जात-पाँत, ऊँच-नीच और पक्षपात से मुक्त रहे। गरीब किसानों के बच्चों से मेलजोल के कारण उन्हें पशुओं, पौधों और पक्षियों से चिर-स्थायी प्रेम हुआ। शायद बचपन के इसी अनुभव के कारण ही आगे चलकर उन्होंने पौधों का गहन अध्ययन किया।

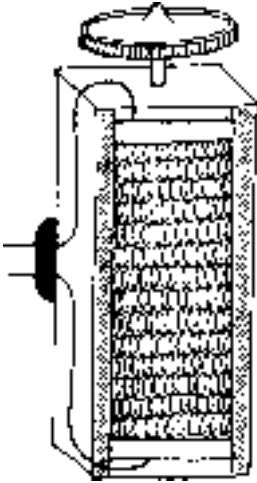
1875 में उन्होंने कलकत्ता के सेंट जेवियर्स स्कूल में दाखिला लिया। स्कूल में वे अपने जेबखर्च के सारे पैसे पौधों और पालतू जीवों पर लुटा देते। 1879 में उन्होंने सेंट जेवियर्स कॉलेज से विज्ञान की डिग्री प्राप्त की। यहाँ उनकी भेंट भौतिकी के एक उत्कृष्ट शिक्षक फादर लाफोंट से हुई। जगदीश इंग्लैण्ड जाकर इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा देना चाहते थे। परन्तु उनके पिता को अँग्रेजों की सेवा करने का यह विचार रास नहीं आया। जगदीश डॉक्टरी सीखे इस बात पर पिता राज़ी हो गए क्योंकि उन्हें लगा कि डॉक्टर बनकर जगदीश गरीबों की सेवा कर पाएगा।

1880 में जगदीश चन्द्र इंग्लैण्ड चले गए परन्तु वहाँ वे जल्द ही बीमार पड़ गए। विशेषज्ञों के उपचार के बाद भी उनका काला-अज़ार ठीक नहीं हुआ। मेडिकल पढ़ाई के दौरान चीर-फाड़ के कमरे की तेज़ गन्ध से उनकी बीमारी बढ़ने का डर था, इसलिए उन्हें डॉक्टरी की पढ़ाई छोड़नी पड़ी। बाद में उन्होंने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के क्राइस्ट चर्च कॉलेज में प्राकृतिक विज्ञान सीखने के लिए दाखिला लिया। यहाँ उनके शिक्षक प्रसिद्ध वैज्ञानिक लॉर्ड रैले थे। जगदीश चन्द्र ने अपने शिक्षक के साथ आजीवन मित्रता निभाई।

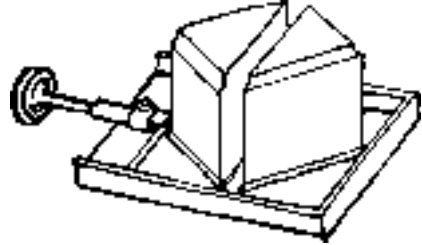
1885 में भारत लौटने के बाद प्रेसिडेंसी कॉलेज में प्राध्यापक के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। परन्तु यहाँ उनके साथ खुलेआम भेदभाव हुआ। वहाँ समान कार्य के लिए भारतीयों को अँग्रेजों की तुलना में केवल दो-तिहाई

तनखाह ही मिलती थी। जगदीश चन्द्र ने इस भेदभाव का एक अनूठे तरीके से विरोध किया। पिता के कर्ज में डूबे होने के बावजूद उन्होंने तीन साल बिना तनखाह लिए तन-मन से काम किया। 1887 में जगदीश चन्द्र का अबला बोस से विवाह हुआ। इससे उनकी आर्थिक ज़िम्मेदारियाँ और बढ़ीं। परन्तु फिर भी बोस घोर कठिनाइयों का सामना करते हुए बिना तनखाह के काम करते रहे। अन्त में प्रशासन नरम पड़ा और उन्हें बकाया राशि समेत पूरी तनखाह दी गई। इस राशि से वे पिता का कर्ज चुका पाए।

प्रेसिडेंसी कॉलेज में बोस की साख एक योग्य और लोकप्रिय शिक्षक के रूप में उभरी। भौतिकी से उन्हें बेहद लगाव था और सरल प्रयोगों और मॉडलों के जरिए वे छात्रों को इसके चमत्कारों से परिचित करवाते। उनके कई छात्र प्रख्यात वैज्ञानिक बने। उनमें भौतिक विज्ञानी सत्येन्द्र नाथ बोस भी थे जिनके सम्मान में प्राथमिक उप-पारमाण्विक कणों के एक समूह को 'बोसॉन' (*boson*) नाम दिया गया है!



विकिरण की लघु तरंग दैर्घ्य का पता लगाने के लिए बोस ने यह सर्पिल स्प्रिंग रिसेवर बनाया।



डबल प्रिज़्म अटेन्युएटर

जगदीश चन्द्र बोस द्वारा प्रेसिडेंसी कॉलेज में शोधकार्य के लिए प्रयोगशाला स्थापित करने के सभी प्रयासों पर अँग्रेजों ने अंकुश लगाया। अन्त में तंग आकर बोस ने भौतिकी विभाग के एक बन्द पड़े गुसलखाने में प्रयोगशाला बनाई। यहाँ अत्यन्त प्राथमिक स्तर के उपकरणों और यंत्रों से उन्होंने विद्युत-चुम्बकीय

तरंगों के उत्पादन, प्रसारण, अपवर्तन (refraction), विवर्तन (diffraction), ध्रुवण (polarization) एवं परिचयन (detection) पर मौलिक शोध शुरू किया। आज प्रचलित सूक्ष्म तरंग (microwave) उपकरणों के कई कल-पुर्जों – तरंग प्रदर्शिका, लेंस एंटीना, ध्रुवक (polariser) पारद्युतिक लेंस (dielectric lenses), प्रिज़्म और विवर्तन ग्रेटिंग (diffraction grating) की झलक हमें उनके प्रयोगों

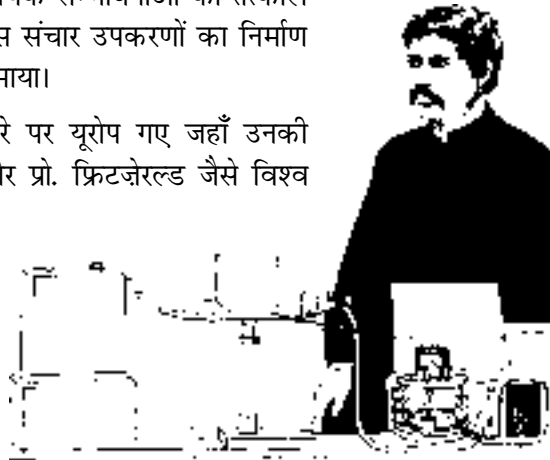


पटसन का ध्रुवक

में मिलती है। इनमें से कई उपकरणों के वे खुद आविष्कारक थे – इनमें बटे हुए पटसन का असाधारण ध्रुवक शामिल है! बोस द्वारा सीसे से बनाए रिसीवर को 1904 में पेटेंट भी मिला। 1977 के नोबल पुरस्कार विजेता और ट्रांज़िस्टर के आविष्कारक प्रो. ब्रिटन के अनुसार बोस पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम अर्धचालक क्रिस्टलों (semiconducting crystals) का उपयोग कर रेडियो तरंगें पकड़ीं। 1977 के ठोस अवस्था इलेक्ट्रॉनिकी में नोबल पुरस्कार विजेता नेविल मॉट के अनुसार बोस अपने अनुसन्धान में दुनिया से 60 वर्ष आगे थे। उन्होंने कहा, “वस्तुतः उन्हें एन-टाइप और पी-टाइप अर्धचालक के मौजूद होने का पूर्वानुमान था।”

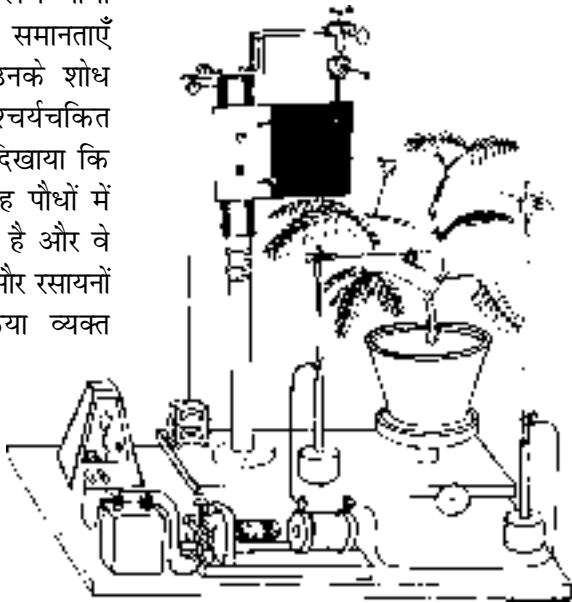
बोस की रुचि घटनाओं के केवल वैज्ञानिक पक्ष में थी, उसे पेटेंट कर उससे धन कमाने में नहीं। जबकि उनके समकालीन मारकोनी ने वायरलेस की व्यावसायिक सम्भावनाओं को तत्काल पहचाना और वायरलेस संचार उपकरणों का निर्माण कर खूब मुनाफा कमाया।

बोस एक शैक्षिक दौरे पर यूरोप गए जहाँ उनकी भेंट लॉर्ड कैल्विन और प्रो. फ्रिटज़ेरल्ड जैसे विश्व के अग्रिम पंक्ति के वैज्ञानिकों से हुई। 1897 के आसपास बोस की रुचि में एकदम बदलाव आया। विकिरण



ढूँढने के लिए उन्होंने जो रिसीवर बनाया था वह कभी 'तेज' और कभी 'मन्द' प्रदर्शन दिखाता था। इससे उनका कौतूहल जगा। ये उन्हें मनुष्य की 'थकान' और 'नई ऊर्जा' की अवस्थाओं जैसी लगीं। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि रिसीवर भी आण्विक स्तर पर काम, थकान, आराम और पुनर्जीवन के चक्र से गुज़रता है। उनके एक शोधपत्र, "सजीव और निर्जीव पदार्थों में विद्युत द्वारा उत्पादित सामान्य आण्विक प्रतिभास" पर तीखी प्रतिक्रिया हुई। इसके कई दशकों बाद जब जैवभौतिकी (Biophysics) और साइबरनेटिक्स (cybernetics) का उद्गम हुआ तो साबित हुआ कि बोस सही रास्ते पर थे।

बाद में बोस की रुचि पौधों और जीवों के बीच समानताएँ खोजने में जगी। उनके शोध ने लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया। उन्होंने दिखाया कि सभी जीवों की तरह पौधों में भी स्नायु-तंत्र होता है और वे विद्युत धारा, उष्मा और रसायनों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। क्योंकि विषय एकदम नया था इसलिए बोस ने प्रयोग के लिए स्वयं कई नए उपकरणों को



बोस ने विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए बांग्ला में ढेरों लोकप्रिय लेख लिखे। बोस का परवर्ती जीवन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन के साथ आगे बढ़ा। उनकी प्रबल राष्ट्रवादी भावनाएँ अनिवार्य रूप से उन्हें रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रफुल्ल चन्द्र रे और स्वामी विवेकानन्द की आंग्ल-आयरिश शिष्या सिस्टर निवेदिता के निकट खींच ले गईं।

डिज़ाइन किया और उनका निर्माण किया। उदाहरण के लिए, पौधों की वृद्धि दर नापने का यंत्र – क्रैसकोग्राफ (Crescograph)। इस उपकरण से पौधों पर रासायनिक खाद और कीटनाशकों के प्रभावों को तेज़ी से नाप पाना सम्भव हो गया।

1915 में बोस अपनी शैक्षिक नौकरी से सेवानिवृत्त हुए। 1917 में उन्हें नाइटहुड (Knighthood) के खिताब से सुशोभित किया गया। उसी वर्ष अपने जन्मदिन पर बोस ने बसु विज्ञान मन्दिर की स्थापना की। यह संस्था अन्तःविषय अनुसन्धान को समर्पित थी। रवीन्द्रनाथ ने इस संस्था का स्वागत गीत रचा। 1920 में बोस को रॉयल सोसाइटी की फ़ैलोशिप के लिए चुना गया।

बोस एक देशभक्त और सांस्कृतिक राष्ट्रवादी थे और उन्हें अपने देश की प्राचीन विरासत पर गर्व था। वे समझ गए थे कि उपनिवेशवाद भारतीयों के आत्मसम्मान को नष्ट कर रहा था। उन्होंने पश्चिमी देशों के सामने साबित कर दिखाया कि भारतीय लोग भी विश्वस्तर का वैज्ञानिक शोध कर सकते थे।

अपने 80वें जन्मदिन के कुछ दिन पूर्व ही, 23 नवम्बर 1937 को जगदीश चन्द्र बोस का देहान्त हुआ। वे भारतीय वैज्ञानिकों की भावी पीढ़ियों हेतु अनुसरण के लिए एक समृद्ध परम्परा छोड़ गए।





प्रफुल्ल चन्द्र रे

(1861 - 1944)

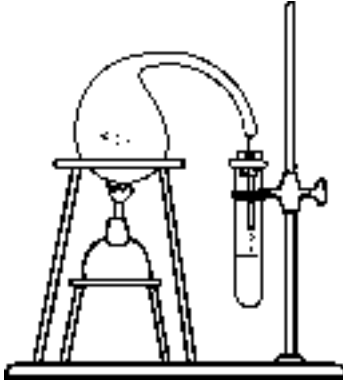
यकीन नहीं होता कि सादे लिबास और सरल आचरण वाला
यह व्यक्ति इतना बड़ा वैज्ञानिक और प्राध्यापक होगा।

- मो. क. गाँधी



1860 के दशक में हमारे देश में कई महारथियों ने जन्म लिया - खीन्द्रनाथ ठाकुर, मोतीलाल नेहरू, मदन मोहन मालवीय, मोहनदास करमचन्द्र गाँधी, स्वामी विवेकानन्द और प्रफुल्ल चन्द्र रे।

प्रफुल्ल चन्द्र रे का जन्म 2 अगस्त 1861 को एक गाँव में हुआ जो अब बांग्लादेश के खुलना ज़िले में है। गाँव में शुरुआती शिक्षा के बाद उनके पिता हरीश चन्द्र अपने बच्चों की अच्छी शिक्षा की खातिर उन्हें कलकत्ता लेकर आ गए। युवा प्रफुल्ल पर ब्राह्म समाज के समाज सुधारकों का गहरा असर पड़ा। वे प्रेसिडेंसी कॉलेज में पढ़े क्योंकि (ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा स्थापित) उनके अपने मेट्रोपॉलिटन कॉलेज में आवश्यक सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं। उस ज़माने में



एफ.ए. की डिग्री के लिए रसायन विज्ञान का विषय अनिवार्य था। 1882 में अत्यन्त कठिन परिश्रम व प्रतिभा के बल पर प्रफुल्ल ने गिलक्रिस्ट वजीफा जीता और विज्ञान की आगे की पढ़ाई के लिए वे एडिनबरा चले गए। वहाँ पर मशहूर रसायनशास्त्री ए. सी. ब्राउन उनके प्रिय शिक्षक और मार्गदर्शक बने। 1887 में प्रफुल्ल ने पीएच.डी. की उपाधि हासिल की।

उसके बाद उन्होंने 'होप' पुरस्कार जीता और विश्वविद्यालय की केमिकल सोसाइटी के उपाध्यक्ष बने। एडिनबरा प्रवास के दौरान उन्हें रसायन विज्ञान से गहरा प्रेम हो गया।

1888 में जब वे भारत लौटे तो उन्हें विश्वविद्यालय की नौकरी ढूँढने में दिक्कत हुई क्योंकि उस समय विश्वविद्यालय में नौकरियाँ अँग्रेजों के लिए आरक्षित होती थीं। बाद में उन्हें प्रेसिडेंसी कॉलेज में नौकरी मिली जहाँ उन्होंने पूरे 27 वर्ष पढ़ाया। रे अपनी कक्षा में वास्तविक प्रयोग दिखाते। इससे उनकी कक्षाएँ प्रेरक और प्रभावी बनतीं। उनके छात्रों में दो भावी दिग्गज वैज्ञानिक थे - मेघनाद साहा और सत्येन्द्र नाथ बोस। नील रत्न घोष और जे.सी. घोष जैसे अनेक होशियार छात्र प्रफुल्ल चन्द्र रे की ओर आकर्षित हुए और इस प्रकार रसायन विज्ञान के पहले भारतीय केन्द्र का जन्म हुआ। धीरे-धीरे इसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली।

रेडियो-तरंगों पर अनुसन्धान के लिए विख्यात जगदीश चन्द्र बोस कॉलेज में रे से तीन साल वरिष्ठ थे। ये दोनों मित्र 20वीं शताब्दी की शुरुआत में भारतीय विज्ञान के कर्णधार थे।

इंग्लैण्ड प्रवास के दौरान रे विज्ञान और उद्योग के बीच के सम्बन्ध को अच्छी तरह समझ पाए थे। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की रुचि केवल भारत के कच्चे माल में थी, यहाँ पर उद्योग स्थापित करने में नहीं। यह काम रे ने किया। उन्होंने दवाइयाँ, रसायनिक अम्ल और अनेक अन्य उत्पाद बनाने पर अनुसन्धान किया। इसके फलस्वरूप सन् 1901 में बंगाल



अविचलित साहस, सच्ची दृढ़ता एवं जुनून से एक दुर्जेय संगठन का उदय हुआ, जो आज भी बंगाल केमिकल्स एंड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड के नाम से जाना जाता है।

केमिकल एंड फार्मास्यूटिकल वर्क्स की स्थापना हुई (बंगाल केमिकल्स एंड फार्मास्यूटिकल्स लिमिटेड के नाम से यह कम्पनी आज भी कार्यरत है)। परन्तु यह काम बहुत कठिन था। नींबू से सिट्रिक अम्ल बनाने का उनका प्रयास असफल रहा। गन्धक अम्ल को व्यावसायिक स्तर पर बनाने में भी वे असफल रहे। अन्त में वे जानवरों की हड्डियों से कॉस्टिक सोडा बनाने में कामयाब हुए। उन्हें कई बार पुलिस और अपने पड़ोसियों को सफाई देनी पड़ी कि वे मनुष्यों की हड्डियाँ नहीं उपयोग कर रहे हैं! पर उनके इन प्रयासों के अनेक लाभ हुए। जैसे-जैसे उनकी कम्पनी ने तरक्की की, वैसे-वैसे अन्य लोग भी उद्योग लगाने के लिए प्रेरित हुए। रे ने चीनी-मिट्टी, साबुन और डिब्बाबन्द फलों के उद्योग भी लगाए।

रे के शोध का क्षेत्र काफी व्यापक था। शुरू में उन्होंने खाद्य पदार्थों में मिलावट के विषय पर काम किया। आवर्त सारणी (Periodic Table) के अज्ञात तत्वों को ढूँढते हुए उन्होंने मरक्यूरस नाइट्रेट (Mercurous Nitrate) को खोज निकाला। कई सालों तक उन्होंने इस लवण तथा उसके व्युत्पन्न पदार्थों पर शोध किया। उन्होंने 100 से भी अधिक शोधपत्र लिखे।

रे ने विद्यालयों और महाविद्यालयों में मातृभाषा में शिक्षण की पुरजोर पैरवी की। बांग्ला भाषा की उन्नति के लिए कार्य करने के कारण उन्हें बंग साहित्य परिषद का अध्यक्ष (1931-34) चुना गया। रे की इतिहास और

साहित्य में भी गहरी रुचि थी। वे आधा दर्जन भाषाओं में पारंगत थे। एक बार उन्होंने बताया था कि वे “गलती से रसायनशास्त्री बन गए”।

रे एक प्रबुद्ध वैज्ञानिक थे और वे प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक उपलब्धियों को उजागर करना चाहते थे जिससे आम लोग अपनी विरासत और परम्पराओं पर गर्व महसूस करें। उन्होंने दो खण्डों में प्राचीन व मध्यकालीन भारत में रसायनशास्त्र का इतिहास (*History of Chemistry in Ancient and Medieval India*) लिखी। उन्होंने *लाइफ एंड एक्सपीरियेंसेज़ ऑफ ए बेंगॉली केमिस्ट (Life and Experiences of a Bengali Chemist/एक बंगाली रसायनशास्त्री का जीवन और अनुभव)* शीर्षक से आत्मकथा भी लिखी।



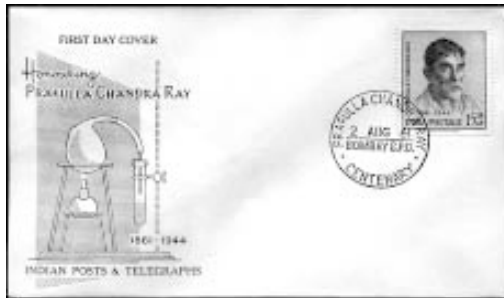
रे की ज़िन्दगी इस बात की मिसाल थी कि लक्ष्य के प्रति केन्द्रित कोई व्यक्ति अपने समय और प्रतिभा द्वारा क्या-क्या हासिल कर सकता है। 1916 में वे प्रेसिडेंसी कॉलेज से सेवानिवृत्त हुए। सर आशुतोष मुखर्जी के आग्रह पर अगले 20 सालों तक वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के नवनिर्मित विज्ञान महाविद्यालय में रसायन विज्ञान पढ़ाते रहे। यहाँ उनके शोध छात्रों ने रसायन विज्ञान के कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिए।

रे परम्परा और आधुनिकता का मिश्रण थे। वे आम भारतीयों जैसे कपड़े पहनते और उन्हें भारत की विरासत पर अपार गर्व था। उनका रहन-सहन एकदम सादा, बिल्कुल गाँधीजी जैसा था। सारी ज़िन्दगी वे महाविद्यालय के ऊपर स्थित एक कमरे में रहे। इसी कमरे में उनके साथ कई गरीब छात्र भी रहते जिनकी फीस वे खुद भरते थे। उन्होंने जाति-भेद मिटाने और विधवाओं के पुनर्विवाह के लिए संघर्ष किया। अकाल और बाढ़ जैसी आपदाओं में मदद करने के लिए वे सबसे आगे रहते। वे अविवाहित रहे और जीवन भर जनकल्याण के लिए काम करते रहे। उनके प्रिय छात्रों ने उनको ‘आचार्य’ की उपाधि दी।

1919 में उन्हें नाइटहुड (Knighthood) से सम्मानित किया गया और 1934 में उन्हें लन्दन केमिकल सोसाइटी का सदस्य मनोनीत किया गया। कई विश्वविद्यालयों ने भी उन्हें सम्मानित किया। 1924 में स्थापित इण्डियन केमिकल सोसाइटी ने उन्हें अपना पहला अध्यक्ष चुना।

सी.वी. रामन ने भी भौतिकी के प्राध्यापक के रूप में प्रफुल्ल चन्द्र रे के साथ विज्ञान महाविद्यालय में काम किया। युवा रामन के काम से रे बेहद प्रभावित थे और रामन के नोबल पुरस्कार पाने से बहुत पहले ही उन्होंने यह घोषणा की थी: “अगर विज्ञान के इस मन्दिर ने केवल एक रामन पैदा करने के अलावा और कुछ नहीं किया होता, तो भी उसने अपने संस्थापक की उम्मीदें पूरी कर दी होतीं।”

प्रफुल्ल चन्द्र रे का देहान्त 16 जून 1944 को हुआ। अपने जीवनकाल में रे ने अपने देश और देशवासियों को बहुत प्रगति करते हुए देखा। इस दौरान उनके बहुत से सपने साकार हुए। अपने देश को आजाद होते हुए वे नहीं देख पाए पर उनके द्वारा तैयार की गई वैज्ञानिकों की नई पीढ़ी ने स्वाधीन भारत में रसायन विज्ञान के अनुसन्धान को बहुत आगे बढ़ाया। वे कभी उनके उपकारों को नहीं भूले और हमेशा उन्हें भारतीय रसायन विज्ञान का पिता कहा। जुलाई 1944 में *नेचर (Nature)* पत्रिका ने श्रद्धांजलि देते हुए लिखा, “भारत में पिछले पचास साल में हुई वैज्ञानिक प्रगति का सबसे अधिक श्रेय सर प्रफुल्ल को है.....।”





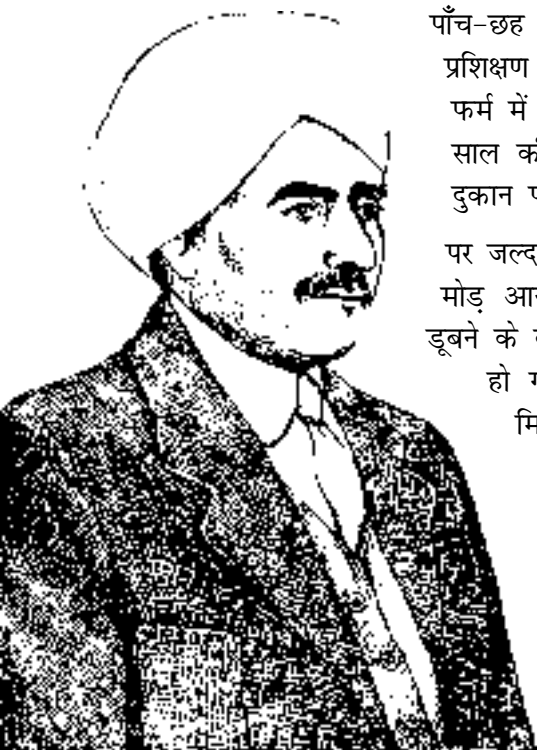
रुचिराम साहनी

(1863 - 1948)

रुचिराम साहनी एक पथप्रदर्शक शिक्षाविद् थे। उन्होंने पंजाब के दूर-दराज के इलाकों में विज्ञान के लोकव्यापीकरण और प्रचार-प्रसार का महत्वपूर्ण काम किया। उनका जन्म 5 अप्रैल 1863 को डेरा इस्माइल खान नाम के एक छोटे शहर में हुआ था। यह शहर अब पाकिस्तान में है। कुछ समय तक एक अनौपचारिक विद्यालय में पढ़ने के बाद

पाँच-छह बरस की उम्र में उन्हें व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए एक दुकान और व्यापारिक फर्म में भेज दिया गया। उसके बाद नौ-दस साल की उम्र में उन्होंने अपने पिताजी की दुकान पर काम करना शुरू किया।

पर जल्द ही रुचिराम के जीवन में एक बड़ा मोड़ आया: कई जहाजों के सिन्धु नदी में डूबने के कारण उनके पिता का व्यापार तबाह हो गया। रुचिराम का दाखिला चर्च के मिशन स्कूल में करा दिया गया जो एक साल बाद ही बन्द हो गया, क्योंकि स्कूल के तीन छात्रों द्वारा ईसाई धर्म अपनाने के बाद अभिभावकों ने



“मैं एक पण्डे से गणित सीखता था। मेरे द्वारा हरेक पहाड़े को याद करके, बिना रुके सुनाने पर पिताजी उन्हें चार आने देते थे। यह ऊपर की फीस थी जो आम तौर पर छात्रों द्वारा हर हफ्ते दिए जाने वाले आटा, गुड़ आदि के अलावा होती थी। पण्डे से विदा लेते समय मुझे 20 X 35 तक के भिन्न और पहाड़े भी मुँह-जबानी याद हो गए थे।

पढ़ाई के बाद मुझे एक-दो महीने एक दुकानदार के साथ बिताने पड़े जहाँ मुझे सीखे हुए पहाड़ों और अंकगणित को वास्तविक परिस्थितियों में लागू करने का मौका मिला। जहाँ तक मुझे याद है, चीजों के हिसाब जोड़ने में मुझे कोई दिक्कत नहीं हुई। प्रशिक्षण का उद्देश्य मुझे रोजमर्रा की जिन्दगी में गणित का महत्व समझाना था। पहाड़े महज रटने की चीज नहीं थे – उनका जीवन से सरोकार था और कुछ गलती करने पर धन्धे में नुकसान हो सकता था। सही और तेजी से हिसाब लगा पाना व्यापार की उन्नति के लिए ज़रूरी था।”

– रुचिराम साहनी की आत्मकथा से।

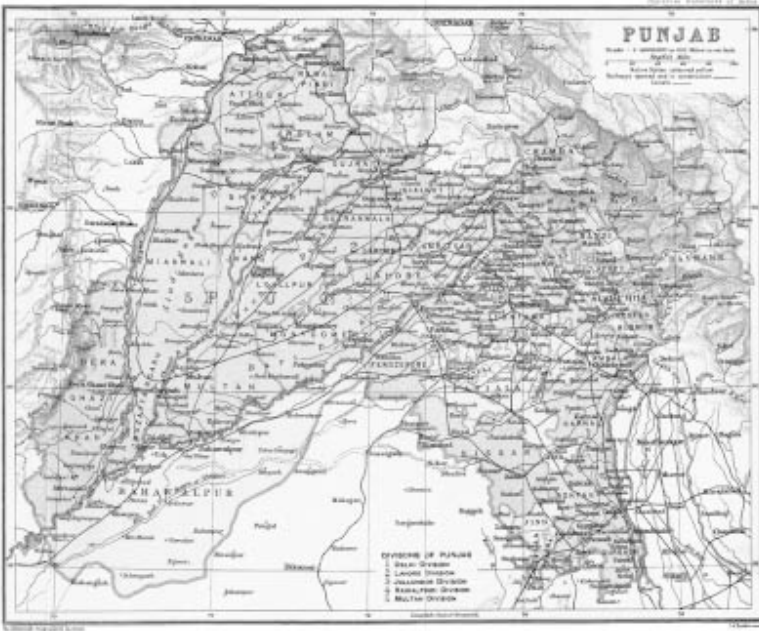
विरोध किया था। उसके बाद मण्डी में बिक्री उपज के दान से एक सामुदायिक स्कूल शुरू किया गया। 15 साल की उम्र में रुचिराम माध्यमिक विद्यालय परीक्षा में प्रथम स्थान पाकर उत्तीर्ण हुए और उन्होंने झंग के पास स्थित हाईस्कूल में दाखिला ले लिया। कुछ ही दिनों बाद पिताजी की तबियत खराब होने के कारण उन्हें वापस घर जाना पड़ा। लगभग 250 किलोमीटर की यह कठिन यात्रा उन्होंने बैलगाड़ी, नाव, ऊँटगाड़ी से और पैसे बचाने के लिए पैदल तय की। 1879 में उनके पिता का देहान्त हो गया जिससे परिवार पर आर्थिक संकट के बादल छा गए। तथापि रुचिराम ने अपनी पढ़ाई जारी रखने का फैसला किया। 1884 में उन्होंने शासकीय महाविद्यालय, लाहौर से बी.ए. की परीक्षा पास की और पंजाब विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। रुचिराम वाद-विवाद प्रतियोगिताओं के साथ-साथ तमाम अन्य गतिविधियों में भी भाग लेते थे। आर्थिक कारणों से रुचिराम ने कलकत्ता के मौसम विभाग में नौकरी कर ली। उनके प्रेरक शिक्षक प्रोफेसर ओमन ने उन्हें नौकरी के साथ-साथ कलकत्ता के प्रसिद्ध प्रेसिडेंसी कॉलेज से स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने

की सलाह दी। कलकत्ता में रहते हुए रुचिराम ब्राह्म समाज की ओर आकर्षित हुए। साथ ही आशुतोष मुखर्जी, प्रफुल्ल चन्द्र रे और जगदीश चन्द्र बोस जैसे वैज्ञानिकों एवं समाज सुधारकों से भी उनका मेलजोल बढ़ा। कुछ समय बाद रुचिराम का तबादला मौसम विभाग के शिमला स्थित मुख्यालय में हुआ; यहाँ वे मौसम की दैनिक और मासिक रपट बनाते थे। एक बार उन्होंने बंगाल की खाड़ी में आने वाले तूफान की सटीक भविष्यवाणी की और बहुत से जहाजों को डूबने से बचा लिया।

1887 में साहनी ने शासकीय महाविद्यालय, लाहौर में सहायक प्राध्यापक के पद पर विज्ञान पढ़ाना शुरू किया। बाद में वे रसायन विभाग के प्रभारी बने। वे अपने व्याख्यानों को विज्ञान के मॉडलों और प्रयोगों द्वारा जीवन्त बनाते थे। इस तरह वे एक लोकप्रिय शिक्षक बन गए। विभागाध्यक्ष, जो एक अँग्रेज़ प्राध्यापक थे, साहनी की लोकप्रियता से ईर्ष्या महसूस करते थे। इसलिए उन्होंने रुचिराम को परेशान करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। अन्त में स्वाभिमानी साहनी ने नौकरी छोड़ दी और रसायन बनाने का एक कारखाना शुरू किया, जो ठीक से चल नहीं पाया। 1914 में साहनी डॉ. फाजन्स के साथ रेडियोधर्मिता के उभरते क्षेत्र में शोध करने के लिए जर्मनी चले गए। परन्तु वहाँ पहुँचने के तुरन्त बाद ही प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हो गया और उन्हें इंग्लैण्ड भागना पड़ा।

इंग्लैण्ड में सौभाग्य से साहनी को विश्वविख्यात नाभिकीय भौतिक विज्ञानी लॉर्ड रदरफोर्ड और नील्स बोहर के साथ काम करने का मौका मिला। उन्होंने रदरफोर्ड के साथ संयुक्त रूप से फोटो पायसीकरण में अल्फा कणों के प्रकीर्णन (scattering) पर दो शोधपत्र लिखे। युद्ध की वजह से इंग्लैण्ड में भी परिस्थिति खराब हो जाने के कारण उन्हें जल्द ही भारत वापस लौटना पड़ा।

लौटने के बाद साहनी ने पंजाब साइंस इंस्टिट्यूट के संयुक्त सचिव का पद सम्हाला। इस संस्था की स्थापना प्रो. ओमन ने की थी। संस्था का उद्देश्य लोकप्रिय भाषणों, प्रयोगों और लालटेन की स्लाइडों द्वारा पूरे पंजाब में विज्ञान का प्रचार-प्रसार करना था। उन दिनों पंजाब की सीमा दिल्ली से लेकर पेशावर तक फैली हुई थी। शिमला में काम करते समय



साहनी ने 'मौसम की भविष्यवाणी' पर कुछ व्याख्यान दिए थे। ये व्याख्यान आम लोगों को बहुत पसन्द आए। ग्रामीण और शहरी लोग, मजदूर और दुकानदार सभी इन व्याख्यानों को सुनने के लिए भारी संख्या में इकट्ठे होते और दो आने का टिकट खरीदकर खुशी-खुशी विज्ञान का

शो देखते। इस फीस से आने-जाने का कुछ खर्च निकल आता। साहनी के व्याख्यान साबुन निर्माण, 1880 से पहले लाहौर का पेयजल, स्वच्छ और दूषित हवा, मनुष्य की सेवा में विद्युत, इलेक्ट्रोप्लेटिंग, काँच निर्माण, पंजाब और उसकी नदियाँ (इसे वे मिट्टी के विशाल त्रि-आयामी नक्शे की सहायता से समझाते) जैसे सामान्य विषयों पर होते।



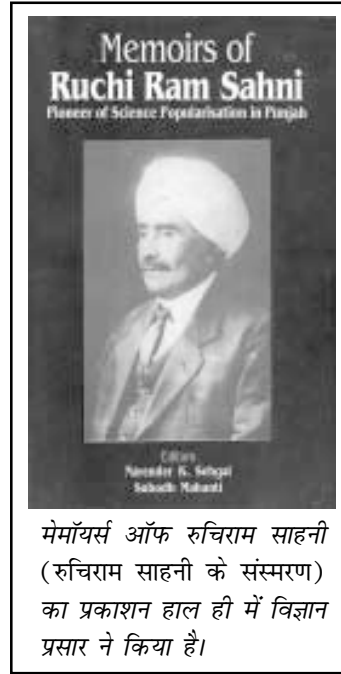
विज्ञान के ये लोकप्रिय व्याख्यान अक्सर

छोटे शहरों और गाँवों में भीड़ इकट्ठा करने के लिए त्योहारों और मेलों के समय आयोजित किए जाते थे। इन व्याख्यानों की वजह से लोगों की विज्ञान में रुचि बहुत बढ़ी। साहनी के व्याख्यानों के लिए जनता की भारी माँग रहती और उन्होंने विज्ञान के लोकव्यापीकरण पर कुल मिलाकर 500 से अधिक व्याख्यान दिए।

विद्यालयों और महाविद्यालयों में प्रयोगशालाओं का अभाव साहनी को बहुत अखरता था। उस ज़माने में विज्ञान के सभी उपकरण महँगे दामों पर विदेशों से आयात किए जाते थे। 1888 में उन्होंने अपने ही घर में उच्च गुणवत्ता के भारत-निर्मित विज्ञान उपकरण बनाने

का एक कारखाना स्थापित किया। इस काम के लिए उन्होंने रेलवे के एक प्रशिक्षित तकनीशियन अल्लाह बख्श को नियुक्त किया। यहाँ बने विज्ञान के उपकरणों को विद्यालयों में या तो मुफ्त या फिर लागत कीमत पर दिया जाता था, जिससे छात्रों और शिक्षकों में विज्ञान के प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़े। बाद में इस कारखाने में एक खराद-मशीन लगा दी गई और धीरे-धीरे इसकी ख्याति उच्च-कोटि के वैज्ञानिक उपकरण निर्माता के रूप में फैली।

1893 में प्रो. साहनी को जाने-माने सामाजिक कार्यकर्ता श्री नामजोशी ने एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए पुणे बुलाया। साहनी ने इस शानदार मौके का फायदा उठाते हुए अपने द्वारा बनाए सभी वैज्ञानिक उपकरणों की प्रदर्शनी लगाई। तीन लोगों की एक समिति को इस प्रदर्शनी पर अपनी सिफारिशें पेश करने को कहा गया। सदस्यों को यकीन ही नहीं हुआ कि ये सारे उपकरण लाहौर या भारत में ही कहीं बने हैं। उन्हें ये उपकरण



मेमॉयर्स ऑफ रुचिराम साहनी
(रुचिराम साहनी के संस्मरण)
का प्रकाशन हाल ही में विज्ञान
प्रसार ने किया है।

इंग्लैण्ड में निर्मित प्रतीत हुए। समिति को लगा कि पंजाब साइंस इंस्टिट्यूट ने बस उन पर भारतीय रोगन पोतकर उन्हें स्थानीय रूप दिया है! उन्हें यह विश्वास ही नहीं हुआ कि इतने उत्तम वैज्ञानिक उपकरण भारत में ही आधी कीमत पर बनाए जा सकते हैं।

1906 में कलकत्ता औद्योगिक प्रदर्शनी में विज्ञान के इन मॉडलों को स्वर्ण पदक मिला। प्रतियोगिता के निर्णायक मण्डल में प्रो. जगदीश चन्द्र बोस भी शामिल थे।

1918 में साहनी शासकीय महाविद्यालय, लाहौर में रसायन विज्ञान के वरिष्ठ प्राध्यापक के पद से सेवानिवृत्त हुए। बाद में उनका सम्पर्क महात्मा गाँधी से हुआ और वे सक्रिय रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन में जुड़े। वे लाहौर से प्रकाशित होने वाले अखबार द ट्रिब्यून (*The Tribune*) के संस्थापक न्यासी थे। वे दयाल सिंह कॉलेज और लाइब्रेरी के भी संस्थापक सदस्य थे।

प्रो. साहनी के तीन बेटे और पाँच बेटियाँ थीं। उनके पुत्र बीरबल साहनी प्रसिद्ध जीवाश्म विशेषज्ञ थे और रॉयल सोसायटी की फ़ैलोशिप से नवाजे जाने वाले पहले भारतीय वनस्पतिशास्त्री भी। अपनी आत्मकथा *सेल्फ़ रेविलेशंस ऑफ़ एन ऑक्टोजिनेरियन (Self-revelations of an Octogenarian)* में रुचिराम साहनी ने अपने जीवन के संघर्षों का विस्तृत वर्णन किया है। उनके पोते, प्रसिद्ध भू-वैज्ञानिक प्रो. अशोक साहनी, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के भूविज्ञान विभाग से सेवानिवृत्त हुए। उनकी पोती प्रो. मोहिनी मलिक ने आई.आई.टी., कानपुर में छात्रों की कई पीढ़ियों को गणितीय तर्कशास्त्र में गहन अन्तर्दृष्टि से प्रेरित किया। पंजाब में वैज्ञानिक पुनर्जागरण के लिए अथक कार्य करने वाले प्रो. रुचिराम साहनी का देहान्त 87 वर्ष की उम्र में 3 जून 1948 को बम्बई में हुआ।





दाराशाह नौशेरवान वाडिया एक पथप्रदर्शक भारतीय भूविज्ञानी थे जिन्होंने देश में भूवैज्ञानिक खोजों की नींव रखी। भारतीय भूविज्ञान के आरम्भिक दिनों के उनके प्रमुख अवलोकन एवं व्याख्याएँ आज भी सर्वमान्य हैं।

वाडिया का जन्म 23 अक्टूबर 1883 को सूरत में हुआ। वे सुप्रसिद्ध जहाज़ डिज़ाइनर और रॉयल सोसाइटी के फ़ैलो के रूप में सम्मानित किए जाने वाले पहले भारतीय – अरदेसर खरसेदजी – के परिवार से सम्बन्ध रखते थे। वाडिया के पिता एक छोटे रेलवे स्टेशन पर स्टेशन मास्टर के पद पर थे। वहाँ अच्छे स्कूल न होने

के कारण वाडिया अपनी दादी के साथ सूरत में रहे और वहीं पढ़े। शुरू में उनकी पढ़ाई एक गुजराती स्कूल में हुई और फिर सर जे. जे. इंग्लिश स्कूल में। जब वे 11 वर्ष के थे तो उनका परिवार बड़ौदा आकर बस गया। यहाँ पर अपने बड़े भाई से उन्होंने विज्ञान के प्रति रुचि और वैज्ञानिक दृष्टिकोण ग्रहण किया।

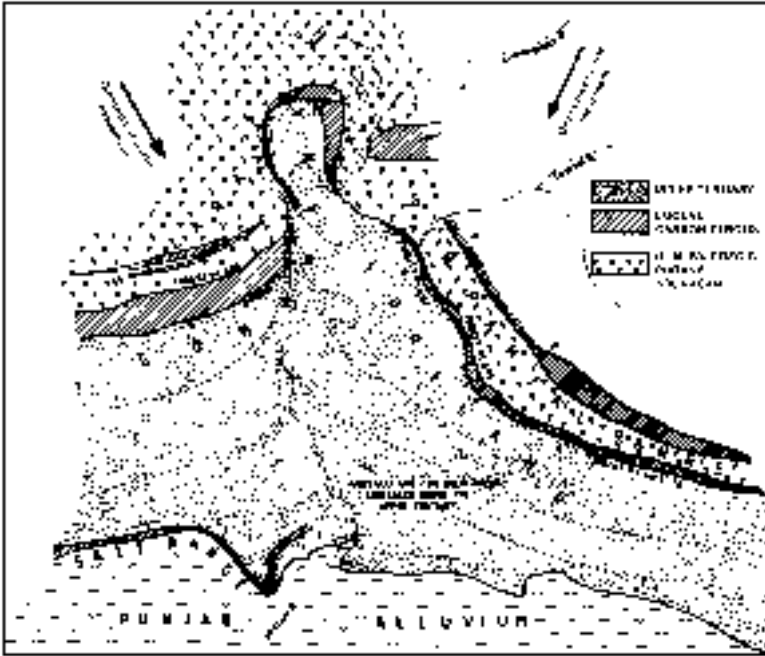




1903 में वाडिया ने वनस्पतिशास्त्र और जीव विज्ञान में बी.एससी. की डिग्री हासिल की। 1906 में एम.एससी. के दौरान उनके विषय जीव विज्ञान और भूविज्ञान थे। भूविज्ञान में रुचि पैदा करने का श्रेय उनके शिक्षक ए.एम. मसानी को जाता है; मसानी को प्रकृति से गहरा लगाव था और वे बड़ौदा महाविद्यालय में प्राकृतिक इतिहास के प्राध्यापक थे। बड़ौदा के कला व विज्ञान संग्रहालय में भूविज्ञान के नमूनों ने भूविज्ञान का अध्ययन करने में उनकी खूब मदद की।

1907 में वाडिया ने जम्मू स्थित प्रिंस ऑफ वेल्स कॉलेज में पढ़ाना शुरू किया और 14 वर्ष तक भूविज्ञान के प्राध्यापक के पद पर काम किया। बाद में इस महाविद्यालय का नाम बदलकर महात्मा गाँधी महाविद्यालय रखा गया और वह जम्मू विश्वविद्यालय के अधीन हो गया। भूविज्ञान के साथ-साथ वाडिया अँग्रेज़ी भी पढ़ाते थे, जिससे पता चलता है कि अँग्रेज़ी पर उनकी जोरदार पकड़ थी। जम्मू में रहते हुए वाडिया ने अपनी हरेक छुट्टी में हिमालय के पहाड़ों की सैर की और वहाँ के भूविज्ञान की जानकारी हासिल की। उन्होंने खनिज, पत्थर और जीवाश्म इकट्ठे किए जिनका उपयोग करके उन्होंने भूविज्ञान की पढ़ाई को रोचक बनाया।

वे अपने छात्रों को शिवालिक पर्वतमाला में घुमक्कड़ी तथा खोज-यात्राओं के लिए ले जाते थे। अपनी सधी हुई निगाह से वे बहुत-सी दुर्लभ वस्तुओं को खोज पाए। एक ऐसे ही परिभ्रमण के दौरान उन्होंने एक भीमकाय स्तनपायी जीव “स्टेगेडॉन गणेशा” (stegodon ganesa) के तीन मीटर लम्बे दाँत का जीवाश्म खोज निकाला। यह खोज बहुत महत्वपूर्ण साबित हुई। हिमालय पर्वतमाला की रचना और भूविज्ञान को समझने के लिए उन्होंने एक के बाद एक पर्वत शिखर पार किए। वाडिया ने उत्तर-पश्चिमी हिमालय में विविध कालखण्डों में चट्टान निर्माण के एक असामान्य क्रम की ओर दुनिया का ध्यान आकर्षित किया। साथ ही उन्होंने नंगा पर्वत के इर्द-गिर्द स्थित पर्वतमाला में बनी घुटने के जोड़ (knee bend) जैसी एक अनूठी संरचना भी खोजी। हिमालय के अध्ययन को पूरी तरह समर्पित वाडिया ने अन्ततः देहरादून में हिमालय भूविज्ञान संस्थान स्थापित किया और उसके संस्थापक निदेशक (1968-69) भी रहे।



हिमालय के नंगा पर्वत क्षेत्र की भूवैज्ञानिक संरचना का रेखाचित्र

बाद में उनकी याद में संस्था का नाम बदलकर वाडिया हिमालय भूविज्ञान संस्थान कर दिया गया। वे राष्ट्रीय भूभौतिक अनुसन्धान संस्थान, हैदराबाद और गोवा स्थित राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान की स्थापना और गतिविधियों में गहराई से जुड़े हुए थे।



1921 में वाडिया ने प्रिंस ऑफ वेल्स कॉलेज छोड़कर भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में सहायक संचालक का पद सम्हाला। उस समय उनकी उम्र मात्र 38 साल की थी और वे पहले भारतीय थे जो बिना किसी यूरोपीय डिग्री के भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में नियुक्त हुए। भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में काम करने से उन्हें उत्तर-पश्चिमी हिमालय में शोधकार्य का पूरा मौका मिला और उन्होंने यहाँ बहुत बुनियादी काम किया। आर.डी. वेस्ट ने वाडिया के काम के बारे में लिखा: “वाडिया हिमालय में जहाँ भी गए उन्होंने वहाँ शैल-विज्ञान की अनसुलझी समस्याओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला।”

वाडिया ने भूविज्ञान सम्बन्धी विविध विषयों पर लगभग 100 शोधपत्र और लम्बे निबन्ध लिखे। 1928 में उन्होंने एक्टिनोडॉन (Actinodon) की एक अच्छी तरह संरक्षित जीवाश्म-खोपड़ी खोज निकाली। इस खोज के माध्यम से हिमालय के कश्मीर क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण चट्टान संरचना के निर्माण का काल निश्चित किया जा सका। वे ताँबे, निकल, सीसे और जस्ते के सल्फाईड अयस्कों के अपार भण्डार खोजने में भी सफल रहे। भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण में काम करते समय वाडिया ने अपना एक वर्ष (1926-27) का शैक्षिक अवकाश ब्रिटिश म्यूज़ियम में बिताया जहाँ उन्होंने कश्मीर में खोजे गए रीढ़ वाले प्राणियों के जीवाश्मों पर शोध किया। इसी दौरान उन्होंने जर्मनी, ऑस्ट्रिया एवं चेकोस्लोवाकिया में स्थित भूविज्ञान से सम्बन्धित संस्थाओं का दौरा भी किया।

भारत में मृदा विज्ञान (soil science) की उपेक्षा पर वाडिया ने गौर किया और अपने लेखन के माध्यम से इस सन्दर्भ में कुछ उपाय भी सुझाए। 1935 में, एम.एस. कृष्णन और पी.एन. मुखर्जी के साथ मिलकर उन्होंने पहली बार *साँएल मैप ऑफ इण्डिया* (भारत का मृदा नक्शा/ Soil Map

of India) संकलित किया। इसे भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण ने प्रकाशित किया और आगे इस प्रकार के अन्य मृदा नक्शों के लिए पथ प्रशस्त किया।

1938 में भारतीय भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण से सेवानिवृत्ति के बाद वाडिया ने श्रीलंका (तत्कालीन सीलोन) सरकार में खनिज वैज्ञानिक का पद सम्हाला। उन्होंने श्रीलंका द्वीप के उत्तम भूवैज्ञानिक नक्शे तैयार करवाए तथा जल आपूर्ति, बाँध निर्माण और अन्य निर्माण परियोजनाओं के लिए भूगर्भीय अनुसन्धान भी किया। वाडिया ने कोलम्बो नगर का पहला भूवैज्ञानिक नक्शा तैयार किया।

वाडिया भारतीय खान ब्यूरो एवं परमाणु खनिज विभाग (1949-69) के संस्थापक निदेशक थे। वे एक ऐसी राष्ट्रीय नीति के पक्षधर थे जिसके अन्तर्गत देश में पानी, गैस और तेल समेत खनिज सम्पदा की बेहतर खोज, उपयोग एवं संरक्षण हो सके। उन्हें पुस्तकों से प्रेम था और उन्होंने भारतीय भूविज्ञान पर पहली आधिकारिक पाठ्यपुस्तक लिखी। इस पुस्तक को गौरवग्रन्थ का दर्जा मिला और 1966 तक इसका छठा संस्करण बिक चुका था। इस पुस्तक पर टिप्पणी करते हुए विख्यात भूवैज्ञानिक के.एस. वाल्दिया ने लिखा: “*द जियोलॉजी ऑफ इण्डिया (The Geology of India)* 1919 में मैकमिलन, लन्दन से प्रकाशित हुई, जिसमें सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप – पाकिस्तान, भारत, बांग्लादेश, म्यांमार और श्रीलंका – के भूविज्ञान का निचोड़ है। इसमें वाडिया के ज्ञान और गहरे शोध की साफ झलक मिलती है। इस गौरवग्रन्थ ने न केवल वाडिया को यशस्वी बनाया बल्कि उन्हें समूची दुनिया में भूविज्ञान पढ़ने वाले छात्रों की अनगिनत पीढ़ियों का गुरु भी बनाया।” वाडिया अपने काम में बहुत मेहनती और चुस्त थे और उन्होंने सारी जिन्दगी बहुत सादगी में गुजारी।

1945 में जवाहरलाल नेहरू की राष्ट्रीय सरकार ने वाडिया को भूविज्ञान सलाहकार के पद पर नियुक्त किया। वाडिया ने ही देश की खनिज नीति की नींव रखी। 1963 में भारत सरकार ने उन्हें भूविज्ञान का प्रथम राष्ट्रीय प्राध्यापक बनाया। भारत सरकार ने उन्हें 1958 में पद्म भूषण से सम्मानित किया। 1957 में वाडिया रॉयल सोसाइटी, लन्दन के फ़ैलो

चुने गए। उन्हें अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया गया और कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें डॉक्टरेट की मानद उपाधियाँ प्रदान कीं।

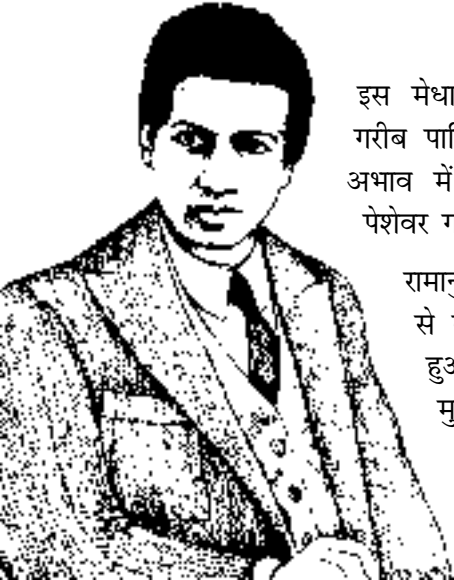
वाडिया ने विज्ञान पर कई उम्दा और लोकप्रिय लेख भी लिखे। उनमें *स्टोरी ऑफ ए स्टोन (Story of a Stone)* वाकई बेमिसाल है। यह एक पत्थर की आत्मकथा है। इस कहानी को पढ़ते हुए भूविज्ञान की जटिलताएँ सहजता से समझ में आ जाती हैं। इसे पढ़ने के बाद वाकई ऐसा लगता है कि पत्थर की भी ज़बान होती है। भारतीय भूविज्ञान की नींव रखने वाले इस महारथी का देहान्त 86 वर्ष की आयु में 15 जून 1969 को हुआ।





हमारे देश में भास्कराचार्य के 800 साल बाद प्रथम श्रेणी का केवल एक गणितज्ञ पैदा हुआ। उनका नाम था रामानुजन और वे महाविद्यालय का प्रथम वर्ष भी उत्तीर्ण नहीं कर सके। भारत ने उन्हें जन्म दिया, भुखमरी, क्षयरोग और असामयिक मृत्यु दी। ब्रिटिश गणितज्ञ हार्डी को इस बात का पूरा श्रेय जाता है कि उन्होंने रामानुजन की योग्यता को पहचाना और उन्हें इंग्लैण्ड बुलाया, प्रशिक्षित किया और उनकी विलक्षण प्रतिभा को फलने-फूलने दिया।

— दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी



इस मेधावी भारतीय गणितज्ञ की जीवनी, जिन्होंने गरीब पारिवारिक पृष्ठभूमि और औपचारिक शिक्षा के अभाव में भी समूचे विश्व में ख्याति अर्जित की, पेशेवर गणितज्ञों के बीच एक किंवदन्ती की तरह है।

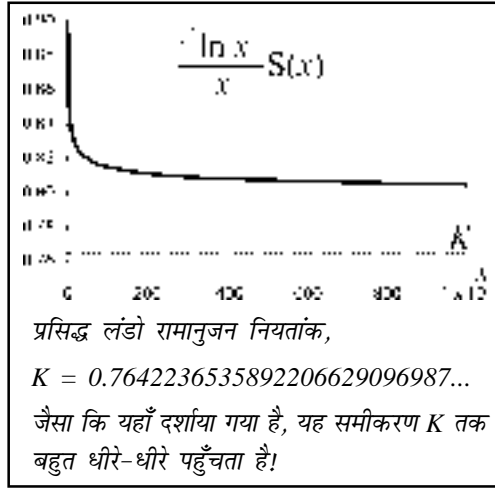
रामानुजन का जन्म 22 दिसम्बर 1887 को मद्रास से लगभग 400 किलोमीटर दूर स्थित इरोड में हुआ। उनके पिता साड़ी की एक दुकान में मुन्शी थे और उनका वेतन बहुत कम था। घर

में गरीबी थी। रोजमर्रा की चीजों का जुगाड़ कर पाना भी दुश्वार था। रामानुजन की माँ कोमलताम्मल मज़बूत इरादों की महिला थीं और अपने बेटे के उत्थान के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थीं। उनसे रामानुजन ने गहरी आध्यात्मिकता सीखी जो उनके जीवन का अभिन्न अंग रही। पास के शहर कुम्भकोणम में अपने ननिहाल में ही रामानुजन पले-बढ़े।

उनकी गणितीय प्रखरता 10 साल की उम्र में ही साफ दिखने लगी। वे न केवल आसानी से खुद ही गणित समझ लेते थे, बल्कि अपने से ऊँची कक्षाओं के छात्रों की शंकाओं का भी समाधान करते थे। हाईस्कूल में उन्होंने जी.एस. कार की पुस्तक *ए सिनॉप्सिस ऑफ एलिमेंट्री रिज़ल्ट्स इन मैथमेटिक्स (A Synopsis of Elementary Results in Mathematics/ गणित में प्राथमिक परिणामों का सारांश)* का अध्ययन किया। आगे चलकर यह पुस्तक गणित की दुनिया में काफी प्रसिद्ध हुई, क्योंकि इसने पद्धति समझाए बगैर अपने हल लिखने की रामानुजन की अद्वितीय शैली को प्रभावित किया था। उन्होंने मद्रास विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा में उत्तीर्ण होने की उम्मीद में कुछ समय एक महाविद्यालय में दाखिला भी लिया। परन्तु गणित में मगन रहने के कारण उन्होंने बाकी विषयों पर ध्यान नहीं दिया और वे परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो गए।

अगले कुछ वर्ष रामानुजन के लिए विपत्तियों से भरे रहे। उन्होंने छात्रों को ट्यूशन देने का प्रयास किया पर इसमें भी वे असफल रहे। गणित पढ़ाते समय वे कई चरण आगे की छलाँग लगा देते और उसकी उच्चस्तरीय व्याख्या करने लगते। छात्र उनकी विद्वत्ता का तो आदर करते परन्तु पढ़ाया गया उन्हें ज़रा भी समझ में नहीं आता। ऐसी घटनाओं ने रामानुजन को सारी ज़िन्दगी परेशान किया। उनकी मौलिकता ज़्यादातर गणितज्ञों की समझ से परे थी। वे हमेशा इस दुविधा में रहते थे कि रामानुजन सच में एक मेधावी गणितज्ञ हैं या फिर कोई धूर्त बहुरूपिया!

उनकी प्रसिद्ध कॉपियों की शुरुआत, जिनमें वे गणित के सूत्र लिखते थे, इसी काल में हुई। बाद में ये नोटबुक्स ऑफ रामानुजन (*Notebooks of Ramanujan / रामानुजन की कापियाँ*) के नाम से पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुईं। रामानुजन का अंकों से



विशिष्ट लगाव था। हर परिमेय संख्या उनकी अभिन्न मित्र थी। ठोस प्रमाण देने की उन्हें कभी ज़रूरत महसूस नहीं हुई, जो पाश्चात्य गणितज्ञों की विशिष्टता थी। उनकी मेधा एक सहज-ज्ञान युक्त मेधा थी। वे एक ऊँची मानसिक छलाँग के बाद सिर्फ प्रश्न का अन्तिम हल लिखते थे। मगर उस हल के चरणों को लिपिबद्ध करने की उन्होंने कभी परवाह नहीं की। गणितज्ञ दो पीढ़ियों से उनके प्रतिपादनों के हल खोज रहे हैं। आज भी वे इस कार्य में पूरी तरह सफल नहीं हो सके हैं।

रामानुजन अब 20 साल के हो गए थे। रिश्तेदारों की निगाह में “वे आलसी थे और अपनी ही दुनिया में खोए रहते थे”। रामानुजन की माँ ने उन्हें ‘ज़िम्मेदारी’ का बोध कराने के लिए पुराना भारतीय तरीका अपनाया - उन्होंने रामानुजन की शादी करने का फैसला किया! उन दिनों बड़ों का आदेश मानने का रिवाज़ था, इसलिए रामानुजन ने 14 जुलाई 1909 को अपने से 11 साल छोटी जानकी अम्मल से विवाह किया। शादी के बाद रामानुजन परिवार चलाने के उद्देश्य से नौकरी खोजने के लिए मजबूर हो गए। 1912 में उन्हें मद्रास पोर्ट ट्रस्ट के लेखा





विभाग में क्लर्क की नौकरी मिली। वहाँ के प्रमुख लेखापाल नारायण राव एक गणितज्ञ थे। पोर्ट ट्रस्ट के अध्यक्ष सर फ्रांसिस स्पिंग और नारायण राव दोनों ने रामानुजन की गणितीय प्रतिभा में खूब दिलचस्पी ली।

रामानुजन ने अपने कार्य को मूल्यांकन के लिए इंग्लैण्ड के गणितज्ञों को भेजा। पर रामानुजन के पास कोई औपचारिक डिग्री नहीं थी, इसलिए किसी ने भी उनके काम को गम्भीरता से नहीं लिया और आम तौर पर उनके पत्रों की उपेक्षा की। 1913 में रामानुजन ने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कॉलेज के प्रख्यात गणितज्ञ जी.एच. हार्डी को एक रोचक पत्र लिखा। पत्र में रामानुजन ने बिना किसी प्रमाण के 120 गणितीय प्रमेय हार्डी को भेजीं। “मैंने इस तरह का कुछ भी पहले कभी नहीं देखा था,” हार्डी ने बाद में लिखा। “यह जानने के लिए उनकी एक झलक ही काफी थी कि वे किसी अव्वल दर्जे के गणितज्ञ की ही लिखी हुई हैं। उनका सच होना अनिवार्य था, क्योंकि अगर वे सच नहीं होतीं तो उन्हें महज कल्पना द्वारा रच पाना असम्भव था।” हार्डी पर रामानुजन के पत्र का गहरा असर हुआ और उनके ही प्रयासों से रामानुजन आगे की पढ़ाई के लिए केम्ब्रिज पहुँचे।

शुरू में रामानुजन के धार्मिक परिवार ने उनके सात समन्दर पार करके विदेश जाने पर आपत्ति जताई। कुछ लोगों के अनुसार रामानुजन की माँ को एक सपना आया जिसमें नामगिरी देवी ने उन्हें अपने बेटे के रास्ते में रोड़ा नहीं बनने का आदेश दिया। उसके बाद परिवार का मिज़ाज नरम

विकासशील देशों के युवा गणितज्ञों को प्रोत्साहित करने के लिए इंटरनेशनल सेंटर फॉर थ्योरेटिकल फिज़िक्स (International Centre for Theoretical Physics) ने रामानुजन के नाम पर एक पुरस्कार स्थापित किया है। पुरस्कार इंटरनेशनल मैथमेटिकल यूनियन (International Mathematical Union) के सहयोग से दिया जाता है। यही संस्था पुरस्कार देने वाली समिति के सदस्यों को मनोनीत करती है।

पड़ा और 1914 में रामानुजन केम्ब्रिज पहुँचे। वहाँ उनके अनुसन्धान ने जोर पकड़ा और उन्होंने संख्या सिद्धान्त, अनन्त श्रेणी और असीमित समाकल (indefinite integrals) आदि विषयों में अनेक रोचक हल प्रकाशित किए। 1917 में उन्होंने हार्डी के साथ मिलकर पूर्णांक के विभक्तिकरण के एक सूत्र की रचना की। हार्डी-रामानुजन नाम से प्रसिद्ध यह सूत्र गणित की दुनिया में एक असाधारण सूत्र माना जाता है। रामानुजन अपने काम में रहस्यमयी चिह्नों और सूत्रों का समावेश करते थे जो उसे विशिष्ट बनाता है। उनका मानना था कि नामगिरी देवी सपने में उनके काम को दिशा और प्रेरणा देती हैं।

1916 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने रामानुजन को बैचलर ऑफ साइंस की डिग्री प्रदान की और 1919 में उन्हें रॉयल सोसाइटी का फ़ैलो बनाया गया। विशुद्ध शाकाहारी होने के कारण रामानुजन अपना भोजन खुद पकाते थे। शायद काम के अत्यधिक दबाव और ठीक भोजन न मिलने के कारण रामानुजन को इंग्लैण्ड में क्षयरोग हो गया और उन्हें अस्पताल में दाखिल होना पड़ा। हार्डी उनसे मिलने गए और उन्होंने कहा, “मुझे लगता है कि मेरी टैक्सी का नम्बर 1729 था, जो मुझे कुछ नीरस जान पड़ता है।” रामानुजन ने जवाब दिया, “नहीं हार्डी! यह एक अत्यन्त रोचक अंक है। यह वह सबसे छोटी संख्या है जिसे दो घन-संख्याओं के जोड़ द्वारा दो अलग-अलग प्रकार से लिखा जा सकता है।” आजकल इसे टैक्सी-कैब प्रश्न के नाम से जाना जाता है, जिसका हल यह समीकरण है:

$$i^3 + j^3 = k^3 + l^3$$

इन संख्याओं को अब ‘रामानुजन संख्याओं’ के नाम से जाना जाता है। कई प्रख्यात गणितज्ञों ने रामानुजन की कापी से उनके कार्य को समझने का प्रयास किया है।

1919 में रामानुजन भारत वापस लौट आए और अगले वर्ष कुम्भकोणम में उनका देहान्त हो गया। उनके काम को बहुत सराहा गया। 1962 में भारत सरकार ने उनकी 75वीं वर्षगाँठ पर एक डाक टिकट भी जारी किया।



सी.वी. रामन

(1888 - 1970)

आज वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में अन्धाधुन्ध पूँजी निवेश और परिष्कृत उपकरणों का बोलबाला है, परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रयोगशालाओं में सबसे महँगा और कीमती उपकरण आज भी मनुष्य का

दिमाग है! इस बात की सच्चाई

का प्रमाण हमें सी.वी. रामन

के जीवन से मिलता है। वे

अकेले ऐसे वैज्ञानिक हैं जिन्हें

भारत में किए गए काम के लिए

नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया

गया। जिन अल्पविकसित उपकरणों

का उन्होंने अपने शोध में उपयोग किया

उनकी कीमत 200 रुपए से भी कम थी!

इस विलक्षण वैज्ञानिक का जन्म 7 नवम्बर

1888 को तमिलनाडु के तिरुचिरापल्ली नगर में

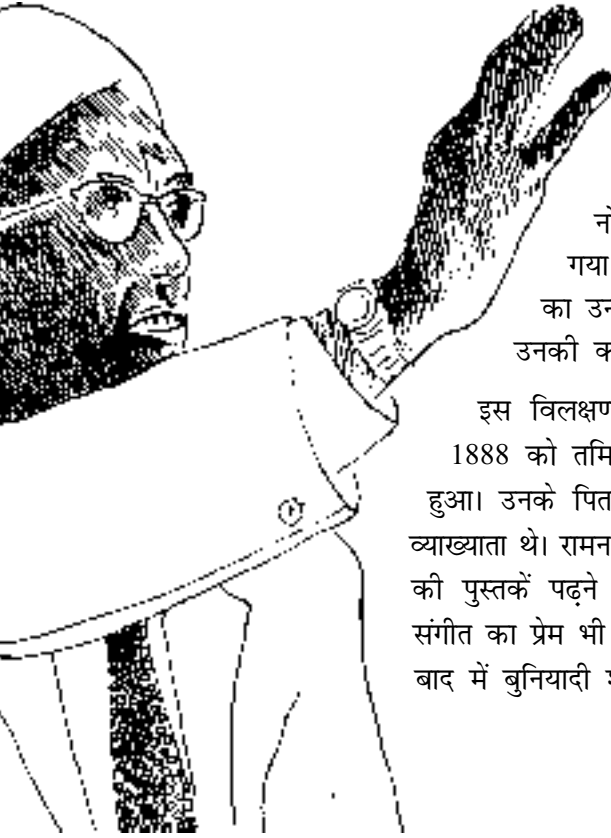
हुआ। उनके पिता भौतिक विज्ञान और गणित के

व्याख्याता थे। रामन को बचपन से ही विभिन्न विषयों

की पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। उन्हें अपने पिता से

संगीत का प्रेम भी मिला, जिसकी प्रकृति पर उन्होंने

बाद में बुनियादी शोध किया।





रामन की पूरी जिन्दगी की तरह उनकी शादी भी नाटकीयता से भरी थी। अपने एक रिश्तेदार के घर पर उनकी भेंट 13 वर्षीय लोकसुन्दरी से हुई और पहली नज़र में ही वे उन पर फिदा हो गए। एक क्रान्तिकारी अन्दाज़ में उन्होंने खुद ही अपने ब्याह का बन्दोबस्त किया।

रामन की पहली भेंट के समय लोकसुन्दरी कर्नाटक शैली में एक गीत गा रही थीं, जिसके बोल थे - रामा, नी समानम् एवरू? (हे राम, कौन तुम्हारे समान है?)

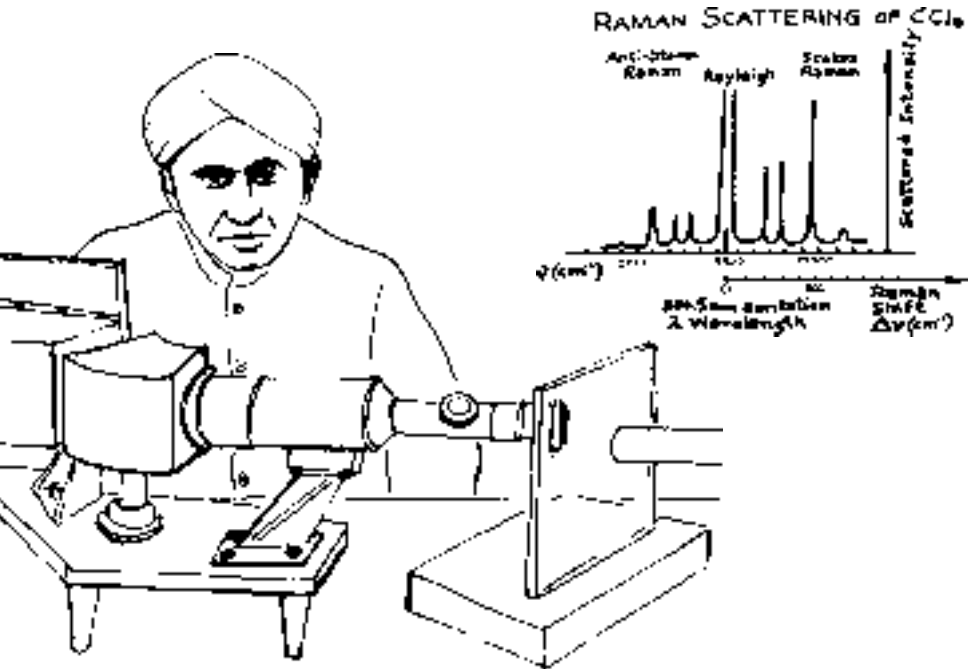
रामन की प्रारम्भिक शिक्षा विशाखापट्टनम में हुई। उन दिनों आयु की पाबन्दी न होने के कारण उन्होंने 11 वर्ष की उम्र में ही हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी! 1902 में रामन ने प्रेसिडेंसी कॉलेज में दाखिला लिया और भौतिक विज्ञान में प्रथम स्थान तथा स्वर्ण पदक के साथ 1904 में बी.ए. पास किया। 1907 में एम.ए. की परीक्षा में वे सर्वश्रेष्ठ छात्र घोषित किए गए। रामन की कद-काठी छोटी थी, जिसने उनके लिए अनेक मुश्किलें खड़ी कीं। अक्सर उनके शिक्षक पूछते, “क्या तुम सच में इस कक्षा के छात्र हो?” महाविद्यालय की पढ़ाई समाप्त होने के बाद रामन को उच्च शिक्षा के लिए विदेश जाने की सलाह दी गई। परन्तु मद्रास में सिविल सर्जन ने जब उनकी जाँच की तो उन्हें लगा कि रामन का छोटा शरीर इंग्लैण्ड का कड़क मौसम बर्दाश्त नहीं कर पाएगा। भारत में रहकर काम करने के लिए रामन सारी जिन्दगी उस डॉक्टर के ऋणी रहे।

रामन ने भौतिक विज्ञान में एम.ए. करने के बाद क्या किया? उन दिनों विज्ञान पढ़ने वालों के लिए बहुत कम नौकरियाँ थीं। अन्य विकल्प खुले न होने के कारण रामन को कलकत्ता में वित्त विभाग में शासकीय नौकरी करनी पड़ी!

वित्त विभाग में नौकरी करते हुए भी भौतिकी में रामन की रुचि लगातार

बनी रही। उन्होंने घर में ही एक छोटी प्रयोगशाला बनाई और वहीं प्रयोग करने लगे। एक दिन काम से लौटते समय उन्हें एक साईनबोर्ड दिखाई दिया जिस पर इण्डियन एसोसिएशन फॉर कल्चिवेशन ऑफ साइंस (Indian Association for Cultivation of Science) लिखा था। कहा जाता है कि रामन चलती ट्राम से कूदकर वहाँ पहुँचे जहाँ उनका स्वागत अमृतलाल सरकार ने किया। इनके पिता महेन्द्रलाल सरकार ने भारतीय विज्ञान का प्रसार करने के लिए 1876 में इस संस्था की स्थापना की थी। अब रामन शाम को अपने दफ्तर से लौटकर वहाँ की प्रयोगशाला में काम करने लगे। जल्द ही वे उच्च कोटि के वैज्ञानिक शोधपत्र लिखने लगे जिनकी ओर विशेषज्ञों का ध्यान आकर्षित हुआ।

1917 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति आशुतोष मुखर्जी ने रामन को विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान की तारकनाथ पालित चेयर स्वीकार करने का निमंत्रण दिया। रामन फूले नहीं समाए। वित्त विभाग के बहीखातों से बरी होकर अब वे अपने प्रिय विषय पर शोध करने के लिए मुक्त थे।



1921 में एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए रामन विदेश गए। उनकी यह समुद्री यात्रा भौतिक विज्ञान के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुई। वे समुद्र के गहरे नीले पानी को निहारते रहते। सागर का पानी नीला क्यों दिखता है? क्या पानी आसमान के प्रतिबिम्ब के कारण नीला दिखता है? क्या कोई और कारण है? रामन को एहसास हुआ कि सागर का नीलापन पानी और सूर्य के प्रकाश के अन्तर्सम्बन्ध के कारण है। इस तरह जब जहाज के अन्य मुसाफिर ताश और बिंगो के खेलों में मस्त थे, तब रामन वहाँ एक जेबी वर्णक्रममापी (spectrometer) से प्रयोगों में मगन थे और उन्होंने अलग-अलग माध्यमों में प्रकाश के प्रकीर्णन पर एक शोधपत्र लिख डाला।

भारत लौटने के बाद रामन ने इस विषय पर गम्भीरता से शोध शुरू किया। उन्होंने प्रकाश की किरणों को भिन्न-भिन्न द्रवों से गुजारा और उनके प्रभाव का अध्ययन किया। अन्ततः 1928 में उन्होंने सिद्ध किया कि जब किसी एक रंग का प्रकाश किसी द्रव से गुजरता है तो प्रकाश के कण और द्रव के परमाणु एक-दूसरे पर क्रिया करते हैं और प्रकाश को बिखेर देते हैं। बाहर निकलने वाली प्रकाश-किरण का रंग आने वाली किरण से भिन्न होता है। बाहर निकलने वाली यह किरण, आने वाली किरण की तुलना में, ऊँचे और नीचे दोनों स्तरों की ऊर्जा की ओर मुड़ती है। यही वह सुप्रसिद्ध 'रामन प्रभाव' है जिस पर आगे चलकर रामन को नोबल पुरस्कार मिला। उनकी खोज से विश्व स्तर पर वैज्ञानिक शोध में तेज़ी आई। इससे अलग-अलग पदार्थों की संरचना के अध्ययन में बहुत मदद मिली।

इस बुनियादी शोध के बाद रामन पर सम्मानों की झड़ी लग गई। अरनेस्ट रदरफोर्ड ने 'रामन प्रभाव' की खोज की घोषणा रॉयल सोसाइटी में की, जिसके बाद ब्रिटिश सरकार ने रामन को नाइटहुड



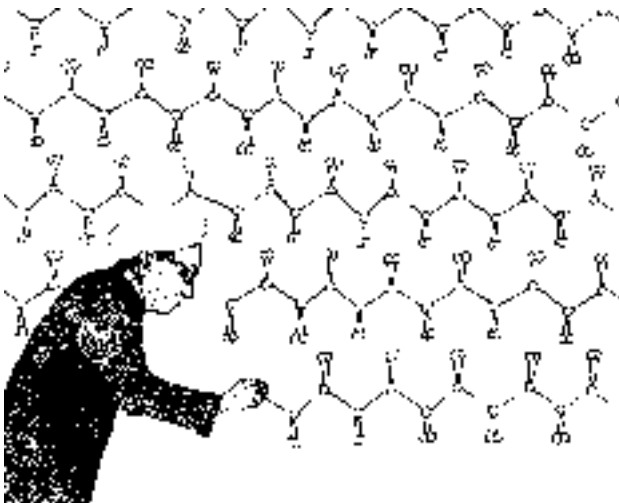
(Knighthood) के सम्मान से नवाज़ा। 10 दिसम्बर 1930 को उन्हें दुनिया के सर्वोच्च पुरस्कार नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। विज्ञान के लिए नोबल पुरस्कार पाने वाले रामन पहले एशियाई और पहले अश्वेत व्यक्ति थे। उनसे पहले रवीन्द्रनाथ ठाकुर को साहित्य के क्षेत्र में यह सम्मान मिला था। रामन के बाद उनके भानजे सुब्रह्मण्यन चन्द्रशेखर को लगभग पचास वर्ष बाद 1983 में नोबल पुरस्कार मिला।

सदियों तक विदेशी ताकतों द्वारा शासन किए जाने के बाद इस अन्तर्राष्ट्रीय गौरव से भारतीय वैज्ञानिक समाज का आत्म-सम्मान बुलन्द हुआ। एक भारतीय वैज्ञानिक को, जिसने सारा शोध भारत में ही रहकर किया हो, दुनिया का सबसे बड़ा सम्मान मिलना सच में बहुत गर्व की बात थी।

जुलाई 1933 में रामन टाटा विज्ञान संस्थान (वर्तमान में भारतीय विज्ञान संस्थान, बैंगलोर) के प्रथम भारतीय निदेशक नियुक्त हुए। अगले 15 वर्ष रामन ने इस संस्था में गुज़ारे और इस दौरान उन्होंने वहाँ विश्व स्तर का भौतिक विज्ञान विभाग स्थापित किया। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अनेक वैज्ञानिकों को प्रेरणा और प्रशिक्षण दिया। उन्होंने क्ष-किरण विवर्तन (X-ray diffraction) और अपने प्रिय विषय प्रकाश एवं पदार्थ के बीच अन्तर्सम्बन्धों पर काम शुरू किया।

रामन की विज्ञान के प्रचार-प्रसार में गहरी रुचि थी। वे एक ओजस्वी वक्ता थे और उन्होंने विज्ञान के भिन्न-भिन्न विषयों पर अनेक भाषण दिए। उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में काम करने के आनन्द तथा समाज के

उत्थान में उसकी मुख्य भूमिका पर बल दिया। अपने लोकप्रिय व्याख्यानों में वे गूढ़ विषयों को सरल और अत्यन्त रोचक रूप में प्रस्तुत करते थे, जिसे वे 'प्रदर्शन' कहते थे। वे दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देते थे। अपने व्याख्यान में वे अक्सर कोई जीवन्त



वैज्ञानिक प्रयोग करके दिखाते थे। उनका व्याख्यान “आसमान नीला क्यों होता है?” आज भी वैज्ञानिक भावना को सम्प्रेषित करने और उसकी पद्धति की एक अनूठी मिसाल है। रूखे तथ्यों या सूत्रों को रटकर सीखने के विषय के रूप में प्रस्तुत न करके, वे विज्ञान को चरणबद्ध प्रश्नों की एक शृंखला के रूप में पेश करते थे। इस तरह वे सुव्यवस्थित तार्किकता के माध्यम से प्रकृति की कार्यप्रणाली को समझाते थे।

वे भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के संस्थापक सदस्य थे।

रामन ने वाद्ययंत्रों के ध्वनि-विज्ञान (acoustics) पर भी काम किया। अध्यारोपण गतियों के आधार पर धनुष-डोर से बजने वाले वाद्ययंत्रों के तिर्यक् कम्पन (transverse vibration of bowed strings on the basis of superposition velocities) का सिद्धान्त भी उन्होंने विकसित किया। भारतीय तालवाद्य तबला और मृदंगम् की ध्वनि के समस्वरीय स्वभाव पर शोध करने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे।

1943 में उन्होंने एक कम्पनी शुरू की जिसका नाम था त्रावणकोर केमिकल एंड मेन्यूफैक्चरिंग कम्पनी लिमिटेड।

1948 में सेवानिवृत्ति से पहले रामन ने बैंगलोर में खुद अपने शोध संस्थान रामन शोध संस्थान (Raman Research Institute) की स्थापना की। इस संस्था की विशेषता यह थी कि उसकी स्थापना के लिए सारी पूँजी व्यक्तिगत दाताओं से आई। उन्होंने 1970 तक अपना वैज्ञानिक शोधकार्य जारी रखा। हमेशा की तरह रामन शोध संस्थान में उन्होंने 2 अक्टूबर 1970 को महात्मा गाँधी मेमोरियल व्याख्यान दिया। इसके बाद वे बीमार पड़ गए और 21 नवम्बर को उनका देहान्त हो गया।

